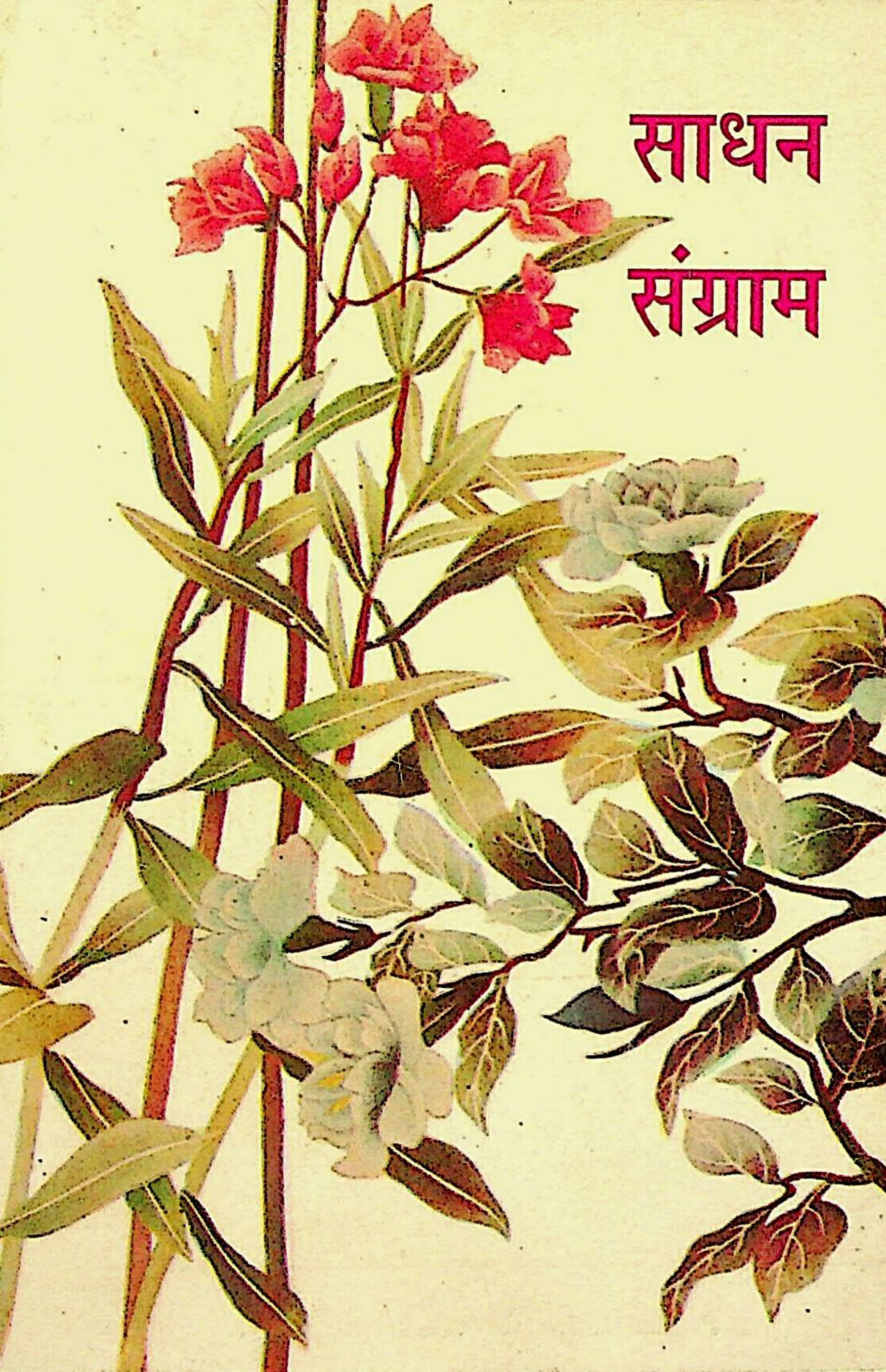

साधन
संग्राम

श्री दक्षिणामूर्ति ग्रन्थमाला—१०

साधन संग्राम
(२)

श्री मत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री निरञ्जनपीठाधीश्वर

महामण्डलेश्वर महेशानन्दगिरि महाराज

के

प्रवचनों का संग्रह

सम्पादक—

पण्डित भगीरथ पाण्डेय

'आकाशवाणी' देहली

प्रकाशक
मधुकर कपूर
६४, सूर्यनगर
आगरा

मूल्य : 27.50
त्रिपुर संहार १९६८

मुद्रक
आगरा यूनिवर्सिटी प्रेस,
आगरा

ग्रन्थसंकेत

अन्नपू०······अन्नपूर्णोपनिषद्
अमन०······अमनस्कोपनिषद्
ऋ०·········ऋग्वेद संहिता
केन०········केनोपनिषद्
कौ०·········कौषीतक्युपनिषद्
गी०·········श्रीमद्भगवद्गीता
छा०·········छान्दोग्योपनिषद्
ते० बि०······तेजोबिन्दूपनिषद्
तै० आ०······तैत्तिरीयारण्यक
बृ० उ०······बृहदारण्यकोपनिषद्
मा० का०···माण्डूक्यकारिका
मु०·········मुण्डकोपनिषद्
यजु०·········यजुर्वेद
वा० सं०·····वाजसनेयसंहिता
वि० चू०······विवेक चूड़ामणि

साधन सार (२)

तापत्रयविदग्धस्य त्रिशीतैर्निर्मलैः सदा।
आलिंगनेन तृप्तिः स्याद् उभयोः शिवजीवयोः॥

सोमो गंगा हिमगिरिः शिवेन सह वर्तते।
अध्यात्मदैवभूतोपि मयि जीवे सदा वसेत्॥

तेन संप्रार्थनेयं मे महेशप्राणवल्लभ।
स्वक्रोडे कुरु मां देव ! एषणात्रयनिर्मलम्॥

शिवं शान्तमनायासं अव्ययं विद्धि निर्मलम्।
न मनागपि तत्रास्तः स्तैमित्येस्पन्दधर्मतते॥

सा क्रियैव तथारूपा सती बोधवशाद्यदा।
व्यावृत्त्यैव तथैवास्ते शिव इत्युच्यते तदा॥

चितिशक्तेः क्रियादेव्याः प्रतिस्थानं यदात्मनि।
यथाभूतस्थितेरेव तदेव शिव उच्यते॥

शिवरूपधरः शान्तः शरदाकाशशान्तिमान्।
यावन्न पश्यति शिवं नित्यतृप्तमनामयम्॥

संविन्मात्रैकधर्मित्वात् काकतालीययोगतः।
संविद्देवी शिवं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम्॥

चितिः शिवेच्छा सा देवं तमेवासाद्य शाम्यति।
जन्मस्थानशिलां प्राप्य तीक्ष्णधारा यथायसी॥

तावद्विमोहवशतश्चितिराकुलेषु,
सर्गेषु संसरति जन्मदशासु तासु।
यावन्न पश्यति परं तमथाशु दृष्ट्वा,
तत्रैव मज्जति घनं मधुनीव भृङ्गी॥

सर्वं व्याप्य शिवः साक्षाद् व्यापकः सर्वजन्तुषु।
चेतनाचेतनेशोपि सर्वथा शंकरः स्वयम्॥

शिवः शिवः शिवश्चैव नान्यदस्तीति किंचन ।
भ्रान्त्या नानास्वरूपो हि भासते शंकरः स्वयम् ॥
प्रथमं सद्‌गुरुं प्राप्य भक्तिभावसमन्वितः ।
शिवबुद्धया करोत्युच्चैः पूजनं स्मरणादिकम् ॥
तद्‌बुद्धया सर्वपापेभ्यो निर्मलत्वं प्रयाति सः ।
तदाऽज्ञानं च नश्येत ज्ञानवाञ्जायते यदा ॥
तदाहङ्कारनिर्मुक्तो जीवो निर्मलबुद्धिमान् ।
शंकरस्य प्रसादेन याति शंकरतां पुनः ॥

प्रस्तावना

श्री विश्वनाथ संन्यासाश्रम, दिल्ली में निरन्तर सत्सङ्ग की ज्ञान गंगा का प्रवाह चलता ही रहता है। उसमें से थोड़ा सा जल सञ्चित करके पुस्तकाकार में यदा कदा विज्ञ जिज्ञासुओं के सम्मुख रखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। 'मानवता की ओर' तथा 'साधन संग्राम' के पाठकों की यह आशा सदा बनी ही रहती है कि निरञ्जन पीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर महेशानन्द गिरि जी के वचनामृत उन्हें संकलित रूप से मिलते ही रहें। इस आशा की पूर्ति करना कई कारणों से संभव नहीं हो पा रहा था, जिनमें प्रधान महामण्डलेश्वर जी की अन्यत्र व्यस्तता के कारण दिल्ली से अनुपस्थिति रही है।

उनके पूर्व आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी नृसिंहगिरि जी भक्तों पर कृपा करके कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा के मन्त्रोपनिषद् पर कई महीनों तक प्रवचन करते रहे। केवल दस दिन के लिये पूज्यपाद महेशानन्द गिरि जी ने बारहवें मन्त्र पर अपना प्रवचन करके भक्तों और जिज्ञासुओं को कृतकृत्य किया। जिन भक्तों ने वे प्रवचन सुने उनका आग्रह था कि उनकी स्थायी स्मृति के लिये उन प्रवचनों को मुद्रित करा दिया जाय।

कुछ संकेतों से उन्हें पुस्तकाकार बना कर इस समय इन प्रवचनों को विज्ञ पाठकों के सामने रखते हुए यह कहना चाहता हूँ कि प्रायः स्वामी जी के प्रवचनों की शैली ऐसी संश्लिष्ट होती है कि बीच की एक भी कड़ी टूटने पर सारी जंजीर शिथिल सी लगने लगती है। अतः यद्यपि पूज्य स्वामी जी के साथ बैठ कर मैंने करीब-करीब सभी लुप्त संकेतों को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया फिर भी कुछ स्मरणीय बातें यदि मेरी लेखनी बद्ध न कर सकी तो इसमें दोष वक्ता का नहीं बल्कि मेरा है और इसके लिये पूज्यपाद से क्षमा प्रार्थी हूं।

भगीरथ पाण्डेय

ॐ

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं, नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत् ।।

कृष्ण यजुर्वेद की श्वेताश्वतर शाखा के मन्त्रोपनिषद् के प्रथम अध्याय का यह बारहवां मंत्र है । इसमें परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का पूर्ण रूपेण वर्णन किया गया है । वेद पुरुष भगवान् का मानो यह एक ही मंत्र में सूत्र रूप से संग्रह है जिसमें निष्ठा की प्राप्ति और साधना निरूपित है ।

एतत् ज्ञेयं से श्रुति ने ज्ञान की साधना का बताया है । एतत् का अर्थ होता है जो सामने हो । इस प्रत्यक्ष को अंगुली के निर्देश से ही बताया जा सकता है । हिन्दी में एतत् का पर्यायवाची शब्द है 'यह' । भगवती श्रुति कहती है कि ज्ञेय तत्व वही है जो प्राणिमात्र को अनुभव-सिद्ध है या जिसे सब जानते हैं । 'एतत्' शब्द से श्रुति कह रही है कि जो प्रत्यक्ष या अपरोक्ष सिद्ध है, जो वर्तमान में उपस्थित है उसी को जानने का प्रयत्न करना है । साधारणतः जाना वह जाता है, या उसी को जानने का प्रयत्न लोग करते हैं जो दूर हो । पर यहां विचित्रता यह है कि श्रुति ज्ञेय उसको बता रही है जो सबको अनुभव सिद्ध है ।

यही बात वेदान्त को अन्य मत-मतान्तरों से श्रेष्ठ सिद्ध करके उसे उच्च स्तर पर पहुंचाती है । वेदान्त ही केवल वह धर्म है जो नास्तिकता को मानता ही नहीं । यदि कोई कहे भी कि मेरा लड़का नास्तिक है तो हम कहते हैं कि वेदान्त के अनुसार वह नास्तिक हो ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसा होना ही असम्भव है । 'मैं हूं' इस अनुभव का अपलाप कोई नहीं कर सकता । 'एतत् ज्ञेयम्' से श्रुति बता रही है कि उसी अनुभव सिद्ध को जानना है । प्रश्न उठ सकता

है कि वह कहां रहता है ? तो इसको बतलाते हुए श्रुति ने कहा 'आत्म-संस्थम्' वह ज्ञेय तत्व अपनी आत्मा में ही स्थित है। संसार के अन्य सब मजहब और मत मतान्तर उसे दूर बताते हैं। अतः उन मतों में सन्देह की गुञ्जाइश है कि परमेश्वर है या नहीं। यह भी सन्देह हो सकता है कि ये लोक भी हैं या नहीं। वेद का यह मंत्र कहता है कि वह नजदीक है, प्रत्यक्ष है। जो सब की आत्मा है वही तो परब्रह्म परमेश्वर है। यदि कोई कहे कि मैं नास्तिक हूं तो वह कह रहा है कि "मैं नहीं हूं"। यह वदतो व्याघात दोष है। उससे पूछना चाहिये कि यदि तुम नहीं हो तो तुम बोल कैसे रहे हो ? देख कैसे रहे हो ? पर यदि कोई कहे कि मुझसे भिन्न परमात्मा है, तो सन्देह सम्भव है कि परमात्मा है या नहीं। पर श्रुति उस परमात्मा को 'एतत्' कह कर अपने पास ही बता रही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि आत्मा ही परमात्मा है और वह पास में ही है, तो ठीक है, इस सब को जान कर फिर हमें करना क्या है ? इसका उत्तर श्रुति आगे देती है 'नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्' अर्थात् अतः परं किञ्चित् वेदितव्यं न अस्ति; इसके बाद कुछ भी जानने योग्य नहीं है। 'अस्मात् आत्मनः परं किञ्चित् अस्ति' इस आत्मा से भिन्न कोई परमात्मा है, या आत्म तत्व से भिन्न कुछ भी है, ऐसी द्वैत दृष्टि अर्थात् जगत्, जीव और ईश्वर इस आत्म तत्व से भिन्न कुछ और है इस अन्ध विश्वास का त्याग करना है।

यहां हम उस ज्ञेय तत्व पर कुछ विचार करेंगे जिससे जीव, जगत् और ईश्वर अतिरिक्त नहीं है। 'ज्ञेयं' पद से ज्ञान व 'वेदितव्यम्' से उपासना को बतलाया। 'ज्ञातव्यम्' न कह 'वेदितव्यम्' ही का प्रयोग किया क्योंकि 'विदि' धातु का अर्थ वेदों में उपासना है। श्रुतियों में जहां जहां अश्वमेध विद्या, अग्नि विद्या, संवर्ग विद्या आदि में विद्या शब्द का प्रयोग है वहां सर्वत्र विद्या का अर्थ उपासना ही है। अतः यहां भी श्रुति ने ज्ञातव्यम् न कहकर वेदितव्यम् ही कहा।

वह कहती है कि इस नित्य-अपरोक्ष परब्रह्म परमात्म तत्व को जानो व उससे भिन्न किसी की उपासना मत करो। उस परमात्मा की ही उपासना करो। जैसे किसी व्यक्ति से डाक्टर कहे कि दही और चावल के अतिरिक्त कुछ मत खाओ, यानी दही-चावल ही खाओ (उल्टा मत समझ लेना कि दही चावल भी मत खाओ) उसी प्रकार यहां श्रुति कह रही है कि परमात्म तत्व से भिन्न किसी की उपासना में मत लगना अर्थात् इसी की उपासना में लगना चाहिये।

इसे सामवेद में विधि और निषेध दोनों प्रकार से कहा है। 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् नेदम् यदिदमुपासते।' (केन० १) भिन्न मानकर जिसकी उपासना करते हो, वह कुछ नहीं है। इसी परमात्म तत्व का विस्तार करके श्रुति ने यहां बताया कि वही भोक्ता रूप से जीव है, भोग्य रूप से जगत् है और प्रेरितारम् या प्रेरणा करने वाले रूप से ईश्वर भी वही है। मंत्र के अन्तिम पद 'त्रिविधम् 'ब्रह्मएतत्' में 'एतत्' पद से ऊपर कहे गये तत्व का स्मरण करा रहे हैं कि वह ब्रह्म ही ज्ञेय है।

'प्रेरितारम्' पद से श्रुति एक बड़ी विचित्र बात बता रही है। परमात्मा ही संसार का प्रेरक है ऐसा सारे धर्म और मत मतान्तर मानते हैं। पर इसमें मतभेद है कि वह प्रेरणा कैसे करता है।

प्रथम मतभेद तो हिन्दुओं में ही आपस में है। कोई कहता है कि परमेश्वर की जैसी इच्छा होती है वैसा ही जीवों से कर्म करवाते हैं। इसकी पुष्टि में उन्हें ऋग्वेद का मंत्र भी मिल गया 'एनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते' (कौ० ३) अर्थात् जिसे परमात्मा ऊपर लेजाना चाहते हैं उससे अच्छा कर्म करवा लेते हैं, और जिसे नीचे गिराना चाहते हैं उससे बुरे काम करवाते हैं। इसी आधार पर इन लोगों ने मान लिया कि परमेश्वर जैसा करायेंगे वैसा ही करेंगे। नानक देव ने भी कहा 'करन करावन आपै आप'। इन लोगों ने श्रुति के अर्थ का

विचार ही नहीं किया। इस श्रुति को गलत समझने से ही सारी साधना में गड़बड़ हो गई। जब हम ऐसे लोगों से कहते हैं कि सत्संग में आया करो तो वे कहते हैं "जी, महाराज! जब आप डोर खीचेंगे तभी सत्संग में आयेंगे।" जब हम कहते हैं "हमने तो अब डोर खींच दी, तुम यहां आ गये, अब यहीं बैठे रहो", फिर घर की ओर क्यों भागते हो? तो कहते हैं "जी, यह तो व्यवहार है!" इसी प्रकार जितने भी कार्य हैं उन सभी में समझ लेना चाहिये। अर्थ को गलत समझने से मनुष्य निरन्तर गलती करता ही चला जाता है। शास्त्र में ऐसे वाक्य भी तो मिलते हैं कि जीव स्वतः स्वतन्त्र है।

इसका समन्वय करते हुए भगवान भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं 'कुर्वन्नेव कारयति'। परमेश्वर करवाता है, पर किस तरह करवाता है, इसमें समझ की भूल है। व्यक्ति जिस काम में प्रवृत्ति करता है उसे परमेश्वर करवा लेते हैं। मानलो कि एक व्यक्ति को दूकान में बैठ कर काम करने में बड़ा रस आता है, किन्तु माला फेरने में उतना रस नहीं आता। भगवान् ने समझ लिया कि इसकी विक्षिप्त चित्त वृत्ति है। उन्होंने कहा कोई बात नहीं, माला फेरने में क्या रखा है, यदि दूकान में बैठकर सत्य-व्यवहार करोगे तो उसमें ही परमात्मा की प्राप्ति हो जायेगी। इसका तात्पर्य माला न जपने में नहीं है, माला जपने का निषेध नहीं कर रहे हैं। भगवान् ने समझ लिया कि साधक माला जपने की इच्छा वाला नहीं है, दूकान में बैठना चाहता है, तो 'कुर्वन्नेव' अर्थात् उसी तरफ लगा दिया। जो जिसमें प्रवृत्ति करता है, परमात्मा उसे उसी में प्रवृत्ति करा देते हैं।

आप कह सकते हैं कि तब तो सीधा ही कहना चाहिये जिस व्यक्ति की जो इच्छा हो वह उसी को करता है, इसमें परमात्मा को बीच में क्यों लाते हो? तो बात ऐसी नहीं है। कई बार देखा गया है कि किसी काम को करने की इच्छा होने पर भी मनुष्य उस काम को नहीं कर सकता। वह इच्छानुसार कार्य करने में असमर्थ होता है। जब तक हाथ ठीक है, परमेश्वर के अनुग्रह से हाथ समर्थ है, तो इच्छा

करने पर हाथ से इच्छानुकूल कार्य कर लेता है, पर यदि हाथ में सामर्थ्य न हो तो इच्छा करने पर भी कुछ नहीं कर सकता। हाथ को ताकत देने का काम परमेश्वर का ही है। जेब काटने की जब इच्छा हुई तो 'कुर्वन्नेव' प्रवृत्ति से वह जेब कटवा देता है।

सामवेद की तलवकार शाखा में शिष्य प्रश्न करता है कि परमात्मा क्या है ? यह मन बड़ा ही विचित्र है, हम इसे लेजाना कहीं चाहते हैं और यह जाकर कहीं अन्यत्र गिर जाता है—'केन ईशितं पतति मन:' (केन० १) किसके शासन के द्वारा मन अन्य-अन्य पदार्थों में जाकर गिरता है ? भगवती श्रुति जवाब देती है 'जो मन के द्वारा नहीं चलाया जा सकता और मन जिसके द्वारा चलाया जाता है श्रोत्रस्य श्रोत्रम् मनसो मन: (केन० १) मन का भी मन है, वही सच्चा रूप है। मैं ध्यान करने के लिये बैठा और ध्यान करना चाहता हूं पर मन कह रहा है कि आय कर का व्यौरा भेजना है। मन के मन की इच्छा कुछ और ही है। श्रुति तो यहां तक कहती है कि मन जिसे विषय नहीं कर सकता वह शिव है। मन से कहा तू परमात्मा में लग, किन्तु मन की इच्छा प्रवृत्त करती है कि तू न लग, तभी मन का मन उसे विषय नहीं करता। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति की मां और पत्नी दोनों घर में हैं। माता खुलकर आज्ञा देती है कि अमुक के विवाह में एक हजार रुपये जाना चाहिये। मन ने भी कहा कि दे देवें। किन्तु ज्यों ही पत्नी के पास गये उसने कहा कि यह समय कोई १०००) रुपये देने का है ? मामा के विवाह पर तो सौ ही रुपये आये थे। पत्नी की ही आज्ञा चलेगी, माता की नहीं। यद्यपि पत्नी ने खुलकर कुछ भी नहीं कहा। किन्तु तब भी पत्नी की आज्ञा बड़ी है। माता को तो जवाब भी दे सकते हैं और यदि अनुकूल न हो तो हरिद्वार चले जाने को भी कह सकते हैं, किन्तु पत्नी को क्या जवाब दें ? इसी प्रकार ऊपर के मन को तो ध्यान में लगाया, किन्तु मन का मन कहता है कि टैक्स भरना है तो किस मन की बात मानोगे ? मन के मन के साथ हो गये यही है 'मनसो मन:' मन का भी मन।

अब श्रुति ने कहा 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्'। 'येन' अर्थात् जिस आत्म शक्ति से मन भी मनन करने में समर्थ है वही तो प्रेरक है। इसी को श्रुति ने 'प्रेरितारम्' कह दिया। ऐसे प्रेरक परमात्मा और बाहर के परमात्मा में बड़ा अन्तर है। अन्य धर्मों में बाहर के परमात्मा को माना गया है। केवल श्रुति ही इस प्रेरक के स्वरूप को स्पष्ट करती है। डंडा लेकर चलने वाले धर्म परमात्मा से डर पैदा करते हैं। यदि कहीं परमात्मा दंड नहीं देता तो कोई उसे क्यों मानता। पर पापी का उत्कर्ष भी देखने में आता है और अच्छे आदमी भी कष्ट में देखे जाते हैं। अतः आज का संदिग्ध विद्यार्थी पूछता है कि पूर्व जन्म का क्या प्रमाण है?

इसका उत्तर श्रुति ने 'प्रेरितारम्' से दिया है। मन के मन की बात नहीं मानोगे तो डंडे पड़ेंगे। मां का डंडा है डांट, या ज्यादा से ज्यादा जोर से बोल देगी। किन्तु पत्नी ऊपर से कुछ नहीं कहती, वह चुप है, तब भी मानो डंडे पड़ रहे हैं। पति पीछे पड़ जाता है, वह तब भी चुप है। आखिर क्यों? वह डंडा बाहर नहीं दीखता, किन्तु मार करता है। अन्ततोगत्वा बाहर का डंडा कमजोर पड़ जाता है। नरक स्वर्ग का तो सामना कर भी लो, किन्तु अन्दर का डंडा 'मनसो मनः'—"क्या किया? क्यों किया? गलत किया, जाने देता!" आदि मनोराज्य में मनुष्य पागल हो जाता है। बाहर के नरक की प्राप्ति होगी, यह बात शास्त्र सिद्ध है। यहां तो श्रुति उस प्रेरक-शक्ति को प्रत्यक्ष मनवा रही है।

एक दृष्टान्त लीजिये। राजा सोमकेतु बड़े धर्मात्मा थे। उनकी धर्म पर अटल निष्ठा प्रसिद्ध थी। प्रजा राजा का अंग होती है। प्रजा का पाप राजा को और राजा का पाप प्रजा को लगता है। आजकल भी जैसे पिता का पाप पुत्र को और पुत्र का पाप पिता को लगता है। पिता यदि डकैती में पकड़ा जाय तो पुत्र को नौकरी आसानी से नहीं मिलती और यदि पुत्र नालायक हो तो पिता की भी बदनामी होती है। ऐसे ही राजा-प्रजा का सांकर्य लोक-शास्त्र सिद्ध है।

काहिरा से आये हुए एक व्यक्ति सुना रहे थे कि जब वे पहले पहल मिश्र में गये तो गांधी-नेहरू के भारत के नाम से उनका लोग बड़ा सम्मान करते थें। उन्हें अच्छी से अच्छी सुविधायें दी जाती थीं। कहा जाता था कि जहां गांधी जैसा व्यक्ति हुआ वहां के लोग भी अच्छे होंगे। किन्तु आज वह बात नहीं रही। इस प्रकार राजा की महानता का प्रभाव प्रजा पर पड़ता है।

राजा सोमकेतु ने सोचा कि मैं तो धर्माचरण करता हूं अतः प्रजा को भी अधर्म से छुड़ाना चाहिये। उसने कानून बना दिया कि कोई झूठ न बोले व किसी को ठगे नहीं। जैसा माल बेचना हो वैसा ही बता दे। लोग राजाज्ञा के अनुसार व्यवहार करने लगे। थोड़े दिनों बाद व्यापारियों का एक सम्मेलन हुआ। सबने कहा कि व्यापार तो ठप्प हो गया है। सच्चाई से माल की खराबी बता देते हैं तो कोई खरीदता ही नहीं। व्यापारियों का एक शिष्ट मण्डल राजा के पास गया और सारी स्थिति बताई। सभी ने कहा कि यदि धर्म से व्यापार करने में इसी प्रकार नुकसान होता रहेगा तो कहां तक धर्म कर सकेंगे? राजा ने कहा कि सच्चाई और ईमानदारी से जो चीजें नहीं बिकेंगी उन सबको राज्य खरीद लेगा। इससे राजा की बड़ी प्रसिद्धि हो गई। दूसरे देशों के व्यापारी भी उसके पास आने लगे। सभी को विश्वास था कि वहां जाकर तो माल अवश्य बिकेगा। धीरे-धीरे विदेशियों ने बहुत सी दूकानें खोल दीं। व्यापारियों का समय भी बचा। विदेशों से उस राज्य का आयात-निर्यात बढ़ने लगा और धन की भी वृद्धि हो गई। सभी लोग प्रसन्न रहने लगे। यह सब सत्य और धर्म के पालन का प्रभाव था।

भगवान् भाष्यकार शंकर भगवत्पाद अपने तैत्तिरीय भाष्य में लिखते हैं 'बुद्धेर्धर्मोनाग्रहः'। वेदान्त दृष्टि है कि बुद्धि का धर्म अनाग्रह है। वह सत्य को चाहती है। ज्ञानाकार वृत्ति तो सारे भ्रम को क्षण मात्र में नष्ट कर देगी। उसकी एक चमक ही अनादि अविद्या को नष्ट कर देगी 'सकृद् विद्या-निहन्त्येव' (वार्तिक)। तीन दिन से

रस्सी में सर्प मान रखा था। बुद्धि का धर्म अनाग्रह होने के कारण वह सच्ची चीज को देखते ही ग्रहण कर लेती है। अतः रस्सी का ज्ञान होते ही वहां सर्प या भय का लेशमात्र भी नहीं रहा। यही बात भगवान भाष्यकार ने ब्रह्म विद्या के लिये भी कही है।

व्यवहार में भी बुद्धि का यही धर्म है। यह याद रखोगे तो बच्चों के साथ, नौकरों आदि के साथ तुम्हारा व्यवहार ही बदल जायेगा। डांट से बचने के लिये बच्चा झूठ बोलता है। मन का मन कहता है कि डांट पडेगी। यदि उसे विश्वास हो कि सच बोलने पर पिताजी कुछ नहीं कहेंगे, कह देंगे कोई बात नहीं, प्लेट तो पुरानी थी टूट गई तो क्या हुआ, ऐसा पुत्र कभी झूठ नहीं बोलेगा। यह है 'बुद्धेर्धर्मोनाग्रहः'। यदि नौकर को विश्वास हो कि ईमानदारी बर्तने से मेरा नुकसान नहीं होगा तो वह कभी बेईमानी करेगा ही नहीं। आज कल राज्य ने मान रखा है कि कड़े से कड़े नियम लगा कर लोग मानेंगे। कड़ाई से कभी सुधरना नहीं होता, बिगड़ना बंद हो जाता है।

राजा सोमकेतु के राज्य में भी आनन्द था। उसके पड़ौस में एक राजा यह देख कर जलने लगा। वह दुष्ट प्रकृति का था। ऐसे लोग दूसरों के उत्कर्ष को नहीं सह सकते। वह सोचने लगा कि क्या किया जाय जिससे सोमकेतु को नीचा देखना पड़े। पड़ोसी राजा ने बहुत प्रयास किये, किन्तु सोमकेतु के राज्य में बेईमानी नहीं हुई। आखिर वह थक गया। यह नियम है कि जब सामान्य प्रयास से कार्य नहीं होता तो लोग मंत्र, जप आदि से कार्य सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। अतः पड़ोसी राजा ने भी शनिदेव की उपासना आरम्भ करदी। दुष्ट लोग तपस्या का भी दुरुपयोग करते हैं। आजकल भी लोग चोरी करने के बाद चोरी के फल से बचने के लिये जप अनुष्ठान कराते हैं। यह रोज ही देखने में आता है। दुष्कर्म करके दुष्कर्म से बचने की इच्छा भी अधर्म करा देती है। लोग कब्रों, प्रेतों आदि की पूजा इसी उद्देश्य से करते हैं।

दुष्ट राजा की उपासना से शनिदेव प्रसन्न होगये और वर मांगने को कहा । उसने वर मांगा कि सोमकेतु के सिर पर जा बैठो और उसे बर्बाद कर दो । 'तथास्तु' कह कर शनिदेव सोमकेतु के सिर पर बैठ गये और राज्य में नुकसान होने लगा । पर राजा ने धर्म का नियम नहीं छोड़ा । यह नियम है कि यदि मनुष्य की बुद्धि खराब न हो तो वह सारी खराबियां संभाल लेता है। अब सोमकेतु के मंत्रियों की बुद्धि भी फिरी । वे कहने लगे कि रद्दी चीजें खरीद लेने से राज-कोष कम होने लगा है । उन्होंने यह बात राजा को जंचाने का खूब प्रयास किया । जंचाने वाले बड़े चतुर होते हैं, उलटी बात भी जंचा देते हैं । राजा सोमकेतु को भी कुछ कुछ उनकी बात जंचने लगी । किन्तु राजा ने धैर्य से काम लिया और कहा कोई बात नहीं, विचार करके निर्णय करेंगे कि अब क्या करना चाहिये । एक तरफ धर्म और कीर्ति के नष्ट होने का भय था और दूसरी तरफ राज-कोष के क्षय होने की भी चिन्ता थी । इसी दुविधा में वे जाकर कुल के इष्ट शिव मन्दिर में बैठ गये । वे सोच में पड़े ही थे कि एक शिव योगी वहां आये । उन्होंने वहाँ से एक पत्थर निकाला और बिना कुछ कहे चल दिये । राजा को आश्चर्य हुआ । पूछने पर शिवयोगी ने कहा कि यह चिन्तामणि है । इससे सम्पूर्ण इच्छायें पूर्ण होती हैं । जब तक तुम्हारा निश्चय था कि धर्म का परित्याग नहीं करूंगा तब तक इस मणि से तुम्हारे राज्य का सारा काम ठीक चलता रहा । जब आज तुम अधर्म का निर्णय करने चले हो तो भगवान् शंकर ने मुझे आज्ञा दी है कि इस चिन्तामणि को यहां से हटा लूं और वापस जाकर दे दूं ताकि मणि तो दूषित न हो । राजा को बड़ा दुःख हुआ और तुरन्त क्षमा मांगी व कहा कि अब मैं किसी भी हालत में धर्म नहीं छोडूंगा । शिवयोगी ने शिव की आज्ञा से चिन्तामणि वहीं रख दी । न केवल राजा ने धर्म का आचरण जारी रखा बल्कि प्रजा को भी धर्म में प्रवृत्त किये रहा । उसने मंत्रियों से कह दिया कि वे राजकोष के कम होने की चिन्ता न करें और सारा काम यथा पूर्व करते रहें ।

यह है 'बुद्धेर्धर्मेनाग्रहः' । जब शनिदेव को यह पता चला तो उन्होंने भी सोचा कि अब वहां उनका काम बनने वाला नहीं है क्यों कि राजा को पूरी तरह निश्चय हो गया है कि धर्म ही सुख का कारण है, अतः शनिदेव वहां से चल दिये। सोमकेतु पर उनका वश चलना असम्भव होगया क्यों कि उन पर परमेश्वर का हाथ था ।

यदि हम परमेश्वर को समझ लें तो ग्रहों का जोर भी नहीं चलता। सब काल सर्वत्र एक शिव है। वह कौन सा ग्रह है जिसमें शिव नहीं है। उसी शिव की सत्ता से तो सारे ही सत्तावान् हैं। वह तो सभी ग्रहों की आत्मा बना बैठा है। अतः आत्मा पर किसी का वार नहीं चल सकता। जिस मुट्ठी में तलवार पकड़ रखी है तलवार उसे कभी नहीं काट सकती। जब जीव ने उस शिव तत्व को ही अपना आत्मा बना लिया तो उसका कभी अहित हो नहीं सकता। शनिदेव फिर अपने उपासक पर ही जा बैठे। परमात्मा को प्रेरयिता मान लेने पर फिर कुछ भी शेष नहीं रह जाता ।

इस कथा में एक आध्यात्मिक रहस्य है। सोम का अर्थ है शंकर, और केतु का अर्थ होता है ध्वजा। जिस जीव ने भगवान् शंकर को ही अपना उपास्य (वेदितव्यम्) बना लिया और यह समझ लिया कि वही मेरा स्वरूप है वह अपने ही धर्म का आचरण करता है। पहले तो जीव परमात्मा को उद्देश्य मानकर जीवभाव से परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोडता है । बाद में वह तद्रूप, शिव रूप ही हो जाता है ।

'आदौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव उदिते खल्विदम् ब्रह्म पश्चात्' (शतश्लोकी) पहले यह ज्ञान कि मैं ब्रह्म हूं, बाद में यह ज्ञान कि सभी कुछ जो इदन्ता रूप से दीख रहा है वह ब्रह्म ही है। 'ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं' (ते.बि. ३) ।

नैयायिकों का मत है कि अभाव ज्ञान के प्रति प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। अभाव का ज्ञान प्रतियोगी ज्ञान के बिना नहीं होता। हम जिस वस्तु को नहीं जानते वह वस्तु है या नहीं यह भी

नहीं जान सकते । सोमकेतु रूपी भोक्ता शिव का निर्णय था कि भोग्य प्रजा को भी तद्रूप, अपने ही जैसा बनाया जाय । संस्कृत में भोग्य शब्द का अर्थ प्रजा भी होता है । अतः उसने उपदेश किया कि सब धर्माचरण करो । तब भोग्य प्रजा भी भोक्ता राजा के साथ एक होगई । जब भोक्ता-भोग्य मिलकर एक होगये तो दोनों को चलाने वाला कौन ? इस विषय में संदेह और जिज्ञासा हो सकती है । इन दोनों को मिलाने वाला वस्तुतः सगुण परमेश्वर ही है ।

आत्मज्ञान के बाद परमात्मा की कोई अलग सत्ता नहीं है । किन्तु लोग मानते है कि अज्ञान निवृत्ति होने पर भी माया तो बनी ही रहती है । ऐसा भी लोग मानते हैं कि अविद्या और माया दो अलग अलग चीजें हैं एवं भक्ति से माया तथा ज्ञान से अविद्या नष्ट होती है । परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है । ज्ञान और भक्ति दो अलग अलग चीजें नहीं हैं । इनको अलग मानना शास्त्र विरुद्ध है । इसीलिये 'स्वस्वरूपानुसंधान भक्तिः अपने स्वरूप के अनुसन्धान का नाम भक्ति है ऐसा भगवान शंकर का उद्घोष है । यदि कहो कि आत्मा को तो जान लिया परन्तु परमात्मा को नहीं जाना, तो यह संशय ही शनिदेव है । आत्मज्ञानी का हाथ भगवान् शंकर कभी नहीं छोड़ते । उस पर फिर कोई भी वार या ग्रह नहीं चल सकता । चिन्मय तत्व ही चिन्तामणि है । इसी चेतन तत्व से ही तो जीव की सारी इच्छायें पूर्ण होती हैं । इसी से सारा व्यवहार या कार्य चल रहा है । गुरु रूप से जब शिवयोगी ने उपदेश किया कि यदि परमेश्वर को आत्मा (चित्) से अलग मानोगे तो वह जड़ हो जायेगा, फिर वह जड़ कोई इच्छा कैसे पूर्ण करेगा ? उसी एक चित् की सत्ता से तो सारे पदार्थ सत्तावान् हैं । अतः आत्मा से अभिन्न उस परमात्मा को मानने पर ही मुक्ति-फल की प्राप्ति होगी । तभी शिव मुक्ति प्रदान करेंगे ।

इसीलिये श्रुति ने कहा 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा' कि इन सब भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता में उसी एक तत्व को जानो, वही ज्ञेय है । अतः मन के मन में भी वही परमात्मा विद्यमान है ।

(२)

परमात्म तत्व का सर्वतोभावेन निरूपण करना सारे वेदों का चरम तात्पर्य है। जिज्ञासा हो सकती है कि परमात्मा ने वेदों को प्रकट ही क्यों किया ? उत्तर है कि उनको परमात्मा ने प्रकट केवल अपने स्वरूप प्रतिपादन के लिये ही किया है। इसीलिये जब उसके स्वरूप को जान लिया जाता है तब सारे शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं। यदि वेद की कोई विशेषता है तो वह यह कि केवल वेद ही ऐसी तरकीब बताता है "यत्र वेदा अवेदाः भवन्ति" जहां वेद भी निरर्थक हो जायें। दूसरे ग्रन्थ अपने को बचाये रखते हैं। वेद कहता है मैं तुमको वहां पहुंचाऊंगा जहां वेद भी न रहेगा। ब्रह्म को जान लेने के बाद सब साधन और वेद भी निष्प्रयोजन हो जाता है। उसी परमात्म तत्व का उपदेश संक्षेप में पर पूर्ण रूप से इस मन्त्र में कर दिया गया है।

ज्ञान, साधन और स्वरूप इन तीन चीजों पर जोर है। ज्ञान को बतलाते हुए श्रुति ने 'एतत्' से यह कहा कि यह ज्ञान सबके अनुभव का विषय है क्योंकि 'ज्ञेय' तत्व अपनी आत्मा में है। तो यह पहली बात श्रुति ने कही कि वह तत्त्व आत्मा में मिलता है, आत्मा में ही उसका साक्षात्कार होता है अब साधन को बतलाते हुए श्रुति ने निर्देश किया कि भिन्न पदार्थों से दृष्टि को हटा लेना ही उपासना या साधन है। नानात्व-दर्शन को हटाना ही उपासना है। यहां कोई नई वृत्ति बनाने की जरूरत नहीं है, केवल पुरानी वृत्ति को हटाना है।

'सिद्धान्तोध्यात्मशास्त्राणां सर्वापह्नव एव हि। नाविद्यास्तीह नो माया शान्त ब्रह्मेदमक्लमम्॥ (अन्नपू० ५) भावाभावमसन्नहि'। सब अध्यात्म शास्त्रों का यही सिद्धान्त है कि सब चीजों का अपह्नव करना चाहिये, उनको हटाना चाहिये। भाव, अभाव और असत् ये तीनों नहीं हैं। जो है या सत्ता में आये वह भाव कहलाता है। जो सत्ता वाला न हो उसे असत् कहते हैं। जो कभी हो और

कभी न हो उसे अभाव कहते हैं। उदाहरणार्थ गधा सत्ता वाला होने के कारण भाव पदार्थ है, पर गधे के सींग या वन्ध्या पुत्र असत् पदार्थ हैं। इन भाव, असत् और अभाव पदार्थों का अपह्नव करने के बाद अर्थात् इनसे सारी वृत्तियों को हटाने के बाद एक मात्र ब्रह्म तत्त्व ही शेष रहता है। इस ब्रह्म तत्व से भिन्न कुछ नहीं है। इस ब्रह्मज्ञान के साधन को श्रुति ने बता दिया।

अब तृतीय बात बताती है कि ब्रह्म का स्वरूप क्या है। इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि जीव, जगत् और ईश्वर ही ब्रह्म का स्वरूप है। त्रिविधम् ब्रह्म एतत्। यहां 'त्रिविधम्' पद के प्रयोग से श्रुति ने बतलाया कि जीव, जगत् और ईश्वर को तीन प्रकार की अलग चीजें मत समझ लेना। यहां एक ही ब्रह्म में तीन कल्पनायें हो रही हैं। यथा एक ही स्त्री में माता, बहन और पत्नी तीनों रूप हैं। विचारशील व्यक्ति स्त्री के इन तीनों रूपों को सच्चा मानता है। जो नारी एक व्यक्ति की पत्नी है वही दूसरे व्यक्ति की माता भी है. यह कोई भयंकर बात नहीं है। उपासक को वही परमात्मा प्रेरयिता, विचारक को भोक्ता, और अविवेकी को भोग्य स्वरूप लगता है। वह स्वयं ही तीनों को अलग-अलग समय में अलग-अलग दीख रहा है।

मन एक ही है। उसे जब बाहर भेजा तब प्रवृत्ति है। संस्कारों को लय करना निवृत्ति है। एक अखण्ड ब्रह्म को करना ही क्या है? मैं ही कभी जब बाहर जाता है तो भोग्य, अन्तःकरण के अन्दर भोक्ता, और जब करने वाला बनता है प्रेरयिता है। वह एक ही तीनों खेल करता है। इतना बता कर श्रुति कहती है 'सर्वं प्रोक्तम्' कि जो कुछ कहना था वह कह दिया, अब कुछ कहने को शेष नहीं रहा।

हम ऊपर कह आये हैं कि परमात्मा के त्रिविध स्वरूपों में से प्रेरयिता ही एक ऐसा स्वरूप है जिसे सभी धर्मों के मानने वाले लोग मानते हैं। केवल उसका अर्थ अलग-अलग प्रकार से करते हैं। अब

हम प्रेरयिता के स्वरूप का विचार कुछ विस्तार से करेंगे। प्रेरयिता को मानने से जीवन का क्रम कैसा बनता है, इस पर प्रकाश डालेंगे।

यह एक विलक्षण बात है कि सृष्टि में एक भी चीज या व्यक्ति ऐसा नहीं है जो किसी न किसी उद्देश्य को पूर्ण न करता हो। व्यर्थ नाम की कोई चीज नहीं है। एक गुरु ने एक बार अपने एक शिष्य से कहा कि ससार में सबसे फालतू चीज को लेकर आओ। शिष्य फालतू चीज ढूंढ़ने निकला। पर गुरु की माया विचित्र थी। कृपा होने पर गुरु इसी प्रकार मार्ग दिखाया करते हैं। शिष्य ने एक पत्ता उठाया, सोचा शायद यह फालतू हो। तो पत्ता बोला कि मुझ से तो पेड़ का जीवन है। मिट्टी ने भी अपने को काम की चीज बताया, उसी में अनाज पैदा होता है, उसी से मकान आदि बनते हैं। अन्त में मल को उठाया, तो मल बोला कि उसी से तो खाद बनती है। एक कण भी ऐसा नहीं है जो व्यर्थ हो। कोई वस्तु हमारे काम की है तो कोई दूसरे के काम की।

एक बार जयपुर में कुछ लोगों ने आकर हमसे कहा कि चूहे बहुत अनाज खा रहे हैं, उनको मारना चाहिये या नहीं। हमने उनसे पूछा कि आप लोगों ने चूहों को बढ़ाया ही क्यों? पुराणों की मान्यता थी कि सांप को मत मारो। इसका आध्यात्मिक अर्थ जो कुछ भी हो व्यावहारिक अर्थ यह है कि मेंढक और चूहों को मार कर सर्प अनाज की इनसे रक्षा करेंगे। अब सांपों को तुमने मार दिया और चूहों को मारने के लिये अलग खर्च करो। एक बार अमरीका में भी इसी प्रकार की बड़ी समस्या हो गई थी। वहां हिरन बहुत बढ़ गये थे। कितने ही हिरनों को गोली से मार दिया गया किन्तु वे फिर भी आ जाते थे। इसके लिये एक आयोग बैठा और उपाय सोचा गया। मालूम हुआ चूंकि शेरों को मार डाला गया था हिरन बढ़ गये थे। अतः शेरों का दूसरे देशों से आयात करना पड़ा। सृष्टि में जिसे भी ईश्वर ने बनाया है वह पूर्ण है। 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' (बृ०उ०५)

आजकल आप लोग भारत में बड़े-बड़े बांध बना रहे हैं। जब कहा था कि बड़े-बड़े बांध मत बनवाओ तो माने नहीं। अब वही बड़े-बड़े बांध समस्या हो गये हैं। भरतपुर में एक बांध टूट गया। महीनों बाढ़ रही। वर्षा समाप्त हो गई। तब भी वहां बाढ़ चल रही थी। यदि वर्षा काल में बाढ़ आयेगी तो १०-२० आदमी मरेंगे और कुछ थोड़ी सी हानि होके रह जायगी। किन्तु अब जब बांध टूटने लगे हैं तो महीनों बाढ़ चलती रहती है। कितनी भारी क्षति होती है।

सृष्टि इस क्रम की है कि उसमें जितना परिवर्तन करते जाओगे उतनी ही गड़बड़ होती जायेगी। छोटे से छोटा अणु, कण, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि सभी किसी उद्देश्य की पूर्ति के ही लिये बनाये गये हैं। 'प्रेरयितारं' से श्रुति यह निश्चय कराती है कि वही प्रेरक है। वही सारे जगत् का शासन करता है। एक और विचित्र बात है कि ईश्वर दो अणु या दो कण एक जैसे नहीं बनाता। कपड़े की मिलों में कलाकार यही सोचते रहते हैं कि कौन सी नयी चित्रकारी निकालें। इस काम के लिये कलाकारों को हजारों रुपये दिये जाते हैं, तब भी वे साल में आठ या दस नमूने बनाते हैं। परमात्मा की कृति में कभी एक प्रकार की दो चीजें नहीं बनतीं और न कभी उसकी नवीनता खत्म हुई। उंगली के निशान को देखकर पुलिस अपराधी को पकड़ लेती है। किन्हीं दो व्यक्तियों के उंगली के निशान एक जैसे नहीं होते हैं। किन्हीं दो व्यक्तियों के चेहरे एक जैसे नहीं हैं। इसी प्रकार हर एक का उद्देश्य स्वतः पूर्ण है, यही परमात्मा बताना चाहता है। यदि जगत् में कोई दो जीव हैं तो दोनों का चिन्तन एक जैसा नहीं है।

अब यह प्रश्न उठता है कि परमात्मा ने इतने रूप क्यों लिये ? मैं परमात्मा हूं, एक जीव रूप क्यों बनूं ? क्योंकि हर क्षण नवीन अनुसंधान कर रहा हूं। यदि मैं नया रूप न लेता तो यह नया मजा कैसे आता ? मतलब यह है कि मैं ऐसा जीव हूं जिसका सानी और नहीं है। इससे मेरे जीव भाव में भी महत्ता साबित हो रही है। मेरे

जैसा दूसरा कोई नहीं है, इसी विचार से मनुष्य की हीन भावना और ईर्ष्या समाप्त हो जाती है। कभी आपने विचार किया कि ईर्ष्या का कारण हीन-भावना (Inferiority complex) है। व्यवहार में अन्य लोगों के गुण को देखकर हीन भावना होती है। उसे अंग्रेजी आती है, मुझे नहीं आती। समानता की इच्छा होने पर भी ईर्ष्या होती है। पर इच्छा होने पर भी मैं वैसा बन नहीं पाता। इसके बाद ईर्ष्या से घृणा भी पैदा होती है। यह मन के पतन का क्रम है। जो विचार करेगा कि मैं भी तो ऐसा हूं जिसके समान दूसरा नहीं उसे परमेश्वर से शिकायत का मौका ही नहीं रहेगा। यह सोचो कि मेरे जैसा वह नहीं है। जो वह है मैं नहीं और जो मैं हूं वह नहीं। इससे मन में एक आत्म विश्वास आयेगा। इस विश्वास में विचित्रता है। मेरे जैसा कोई नहीं है, साधारणतया ऐसा कहने से घमण्ड आता है। मैं धनीमानी हूं, इस कथन में गर्व छिपा हुआ है, किसी के अवहेलना की दृष्टि है। अब प्रेरयिता की दृष्टि से सोचो। मेरे जैसा कोई नहीं है और उसके जैसा भी कोई नहीं है तो इसमें ईर्ष्या और गर्व की जरूरत ही नहीं रही। मेरे गुण उसमें नहीं हैं और उसके गुण मुझ में नहीं हैं। इस भावना से रहो तो ईर्ष्या, गर्व आदि मनोविकारों को ठहरने की जगह ही नहीं मिलती। परमेश्वर ने जिस उद्देश्य से मुझे बनाया है उसे मैं जानूं और पूर्ण करूं। मेरे पैदा होने से यह स्वतः सिद्ध है कि प्रेरयिता या पैदा करने वाले के मन में मेरे उद्देश्य का विचार तो होगा ही, तभी मेरे सञ्चित कर्मों से चुनकर मेरा प्रारब्ध बनाया। कर्म अनन्त हैं। उस अनन्त कर्म राशि में से परमात्मा कुछ कर्म निकालता है जो करोड़वां हिस्सा भी नहीं है। शिव को स्पष्ट है कि यह कर्म बनाऊंगा तो यह आदर्श बनेगा। जब हम वही आदर्श बन गये तभी वह उद्देश्य पूरा हुआ। अतः गीता में भगवान् ने कहा स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि। (गी० २·३१) स्वधर्म से भगवान् ने बतलाया कि प्रत्येक मनुष्य का अपना कोई धर्म है। धर्म का लक्षण

क्या है ? मीमांसा शास्त्र के अनुसार वेद विहित विधान ही धर्म है। वेद-पुरुष परब्रह्म परमात्मा ही है। अतः परमात्मा ने जो विधान किया (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के लिये विधान) वह धर्म है। एक विधान प्राणि मात्र के लिये किया सांस लेओगे तो जियोगे। इससे आगे के कुछ विधान ज्यादा सीमित हैं। जैसे किसी के बच्चे अण्डे से और किसी के गर्भ से पैदा होंगे, आदि। यह विधान भी एक महत् विधान है। इसके बाद कुछ और छोटे-मोटे विधान हैं। कुछ पशुओं के दांत ऐसे हैं जो पशुओं को खाते हैं। इन्हें श्वादन्त (Canine Teeth) कहते हैं। मांस खाने वाले असुरों के दांत बड़े-बड़े होते हैं। घास खाने वाले पशुओं के दांत एक जैसे चौड़े होते हैं। कुछ जीव गर्भ से पैदा होते हैं। उनमें भी विधान भिन्न-भिन्न और सीमित हैं। गर्भ से पैदा होने वाले जीवों में से कुछ मनुष्य बने। उनमें भी कुछ धर्म मनुष्य मात्र के हैं। दया आदि धर्म तो मनुष्य मात्र के लिये हैं, पर ब्राह्मणों का विशेष धर्म वेद का स्वाध्याय करना और दूसरों को कराना है। क्षत्रिय भी वेद पढ़े किन्तु शस्त्र धारण करे। ये सब स्वधर्म ही हैं। चार आश्रमों का विभाग आदि सब विधान उस परमात्मा के ही हैं।

पर स्वधर्म का दूसरा पहलू यह भी है कि तुम अखण्ड व्यक्ति हो, तुम्हारा सानी नहीं है। अतः मेरा स्वधर्म मेरा ही धर्म है। यथा मेरी पत्नी है, उसका पोषण करना मेरा धर्म है, किसी दूसरे की पत्नी का पोषण करना मेरा धर्म नहीं है। उसी प्रकार यदि सारे धर्मों का निष्कर्ष निकालो तो पता लगता है कि मैं मानव और प्राणी आदि सब कुछ हूं, और मेरा अपना एक धर्म है जिसे भगवान् ने 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' से कहा है। उस स्वधर्म का विचार करो।

वेद की आज्ञा परमेश्वरीय आज्ञा है। जो परमात्मा की आज्ञा मेरे लिये हुई वह मेरा स्वधर्म है। मेरे अनन्त सञ्चित कर्मों में से प्रभु ने कुछ निकाल करके मेरा प्रारब्ध बनाया। जिस उद्देश्य से मेरा प्रारब्ध बना उसको पूरा करने पर ही मैंने प्रेरयिता की इच्छा को पूरा किया वरना नहीं। यह प्रेरयिता की भावना, शक्ति का विचार ही

गर्व, ईर्ष्या आदि विकारों को हटाने में समर्थ है। यदि यह शंका करो कि यदि मैं उस उद्देश्य को पूरा नहीं करूँगा तो परमात्मा उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये किसी दूसरे को बना देंगे, तो ऐसी बात नहीं है। भगवान् की आदत है कि मेरे जैसा दूसरे को नहीं बनायेंगे। मुझ से ही वह उस भाव को, उस उद्देश्य को पूरा करायेगा, दूसरे से नहीं। अतः इस स्वधर्म की प्राप्ति के लिये उस विशेप उद्देश्य को मैंने ही पूरा करना है। तभी जीव का लक्ष्य पूरा होता है।

हम आत्मा हैं। हम मानव हैं। हमारा यह धर्म है कि आत्म भाव में आत्म-धर्म को भी जानें और जीव भाव में जीव-धर्म को भी जानें। धर्म से कभी मत कांपो, घबराओ नहीं। मैंने अर्थात् जीव ने यदि वह उद्देश्य बनाया होता तब तो मैं असफल हो जाता। ब्रह्माण्डपति के संकल्प के पीछे उसकी सारी शक्तियां हैं। मैं यदि आरक्षयध्यक्ष (I.G.P.) हूं तो चार गुण्डे मुझे पकड़ कर मार देंगे और कहेंगे दिखाओ अपनी अध्यक्षता। पर पुलिस की सारी शक्ति मेरे पीछे है अतः निर्भय हूँ। मैंने वह उद्देश्य यदि निश्चित किया होता तो असफल हो जाता; उद्देश्य तो सरकार ने निश्चित किया है। सरकार की सम्पूर्ण शक्ति मेरे साथ है अतः मुझे भय नहीं। जब यह मानकर चलोगे तभी सफल होओगे। ऐसे ही हमको बनाने वाला तो संचालक, प्रेरयिता है। उसी ने हमारा उद्देश्य निश्चित किया है। यदि मैं उसी की पूर्ति में लगूंगा तो उसके सारे संकल्प, उसकी सारी शक्ति मेरे पीछे रहेंगे। और यदि जिलाधीश स्वयं ही घूस लेने लगे और अपने उद्देश्य को छोड़ दे तो उसको भी दण्ड भोगना पड़ेगा। जिलाधीश का उद्देश्य है न्याय देना। यदि वह अपने इस उद्देश्य को भूल गया और अब घूस लेना ही उसने अपना उद्देश्य बनाया तो उसके पीछे सरकार की शक्ति नहीं रहेगी। यदि वह पकड़ा गया तो उसकी धज्जियां उड़ जायेंगी। इसी प्रकार यदि प्रेरयिता के निश्चित उद्देश्य को मैं पूरा करूगा तो ब्रह्माण्डनायक की शक्ति मेरे पीछे रहेगी, नहीं तो दण्ड मिलेगा। आज हमारे चारों तरफ अशान्ति क्यों है? सब

जगह अपूर्णता का भाव क्यों है ? कारण केवल यह है कि हम सब परमात्मा या प्रेरयिता के उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर रहे हैं। इसी लिये सब तरफ अव्यवस्था, अशान्ति और अपूर्णता है।

भगवान् भाष्यकार अपरोक्षानुभूति में कहते हैं कि यह विचार करो कि मैं कौन हूं। भाष्यकारों की शैली प्रसन्न गंभीर है। देखने में सरल किन्तु महान् गम्भीर अर्थों को लिये हुए। बड़े सूक्ष्म और गहन अध्ययन से ही उनके अर्थ समझ में आ सकते हैं, फिर भी उनका कथन ऊपर से देखने में बहुत सरल और सुन्दर होता है। 'कोऽहम् कथमिदं जातम्' से भगवान् भाष्यकार कह रहे हैं कि यह विचार करो कि मैं कौन हूं। मैं वैदिक हूँ, मैं प्रवचनों का श्रोता हूं, मैं झूठ बोलूंगा ? कभी नहीं। सत्संगी होना भूलोगे, तभी झूठ बोलोगे। जब यह याद रखोगे कि मैं सत्संगी हूं तो कभी झूठ बोलोगे ही नहीं। अथवा यों सोचो कि दिल्ली में ४० लाख लोगों की आवादी है, उनमें से ४० हजार ऐसे होंगे जो सत्संग-श्रवण करते होंगे। उनमें मैं एक हूँ। इन ४० हजारों में भी ४०० ऐसे होंगे जो रोज सत्संग करते होंगे। उनमें से मैं एक हूं। उस ४०० में से भी ४० ही ऐसे होंगे जिनकी वेद पर निष्ठा है। उनमें से मैं एक हूं। मैं कभी झूठ नहीं बोलूंगा।

परमेश्वर ने इतनी महान् जिम्मेदारी मुझे दी है। कितनी महत्ता है मेरी ? धन तो दूसरों के पास भी है, यदि मैं भी उनकी जाति का हो गया तो विशेषता क्या ? शास्त्रों में यही विलक्षण चीज बतलाई गई है कि मेरी विशेषता क्या है ? मानव की विशेषता यही है कि वह अपने उद्देश्य, स्वधर्म की पूर्ति में रत हो सकता है। इसी में उसकी सफलता है।

एक व्यक्ति ने बचपन में बड़ी साधना की, अच्छा जीवन बिताया, पूजा-पाठ आदि सब करता था और गृहस्थाश्रम बहुत सुन्दर ढंग से निभाया। सत्कार्य में लगे रहने से सदा उन्नति होती है। उसे भी कुछ धन प्राप्त हो गया। पर उन्नति का असली अर्थ है उत् अर्थात् ब्रह्म की

ओर नति मतलब झुकना। 'तस्य उत् इति नाम' (छा० १·६) में सामवेद ने उत् को स्पष्ट ही ब्रह्म का नाम कहा है। परमात्मा अर्थात् ब्रह्म के प्रति नति अर्थात् झुकना ही उन्नति है। इस उन्नति में कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव हटता ही जायेगा। शिवः कर्त्ता शिवो भोक्ता शिवः सर्वम् इदं जगत्। शिवो यजति यज्ञश्च सोहमस्मि सदा शिवः।। वृत्ति तो जड़ है, चेतन ही भोग करेगा और यज्ञ आदि क्रिया भी वही शिव है। वही शिव 'अहम्' बोल रहा है चेतन तो एक ही शिव है। मैं कर्त्ता नहीं, भोक्ता नहीं, मैं तो सदाशिव हूं। इसके विपरीत अवनति का अर्थ है नीचे झुकना। ब्रह्म से नीचे के पदार्थों के प्रति नति ही अवनति है। ब्रह्म के नीचे शरीर और मन इत्यादि हैं। हम सब उनके सामने झुकते हैं। मन सिनेमा देखने के लिये कहता है तो दिखा देते हो। अफसरों के सामने तो शरीर के प्रति नति है।

धीरे-धीरे उस व्यक्ति का धन बढ़ा। उन्नति से वास्तविक दृष्टि की अवनति होने लगी। करोड़ों रुपयों से घिरा हुआ व्यक्ति भी परमात्म दृष्टि वाला हो सकता है और योगी होता हुआ भी आशा-पाश में बद्ध हो सकता है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं अग्रे वह्निः पृष्ठे भानुः रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः करतलभिक्षा तरुतलवासः तदपि न मुञ्चत्याशापाशम्।। (मोह मुद्गर) कभी आग सेंकता हूं, कभी धूप सेंकता हूं, कभी घुटनों में ही ठंडी रात बिता देता हूं, अनिकेत हूं, पर आशा-पाश फिर भी नहीं छोड़ता। पदार्थों के बढ़ने से आकर्षण बढ़ता चला जाता है। यदि विकर्षण (धक्का मारने) को बढ़ाया तो पदार्थ उतने ही रहेंगे कि जितने सम्हालने का बल है। अतः वृत्ति को अपनी तरफ खींचने वाले पदार्थों से दूर करते चलो।

कलकत्ते में एक हमारे परिचित व्यक्ति हैं। उनका व्यापार बहुत विस्तृत था। तीन-तीन दूकानें थीं फिर भी घाटा होता था। एक परिचित व्यक्ति कोषा के अध्यक्ष थे। उन्होंने उनके व्यापार का अध्ययन किया और कहा कि व्यापार बहुत विस्तृत होने के कारण नियन्त्रित नहीं

हो पाता, इसलिये तीनों दूकानों में घाटा होता है। उन्होंने राय दी कि यदि वे तीनों दूकानों से व्यापार न करके केवल एक ही दूकान से व्यापार करें तो लाभ होगा। अतः उन्होंने दो दूकानें बन्द करके एक ही दूकान से व्यापार करना शुरू किया तो उसी एक दूकान से लाभ होने लगा। काम को घटाने से भी फायदा संभव है और काम को बढ़ाकर भी नुकसान हो सकता है। यही बात यहां भी लागू होती है कि वृत्तियों को संकुचित करने से अधिक शान्ति मिलेगी, ज्यादा बढ़ाते जाने से असफलता ही हाथ लगेगी। इसलिये पदार्थों को उतना ही बढ़ाना चाहिये जितना नियन्त्रण कर सकते हो। योगः कर्मसु कौशलम्। (गी० २। ५०) कौशल तो यही है।

धन के बढ़ने से अब उस व्यक्ति की स्वधर्म में निष्ठा कम होने लगी। जब मन परमात्म-चिन्तन से हट कर पदार्थों में लगा तो यही अवनति का चिह्न है। साधक के मन में भी काम-क्रोधादि छिपे रहते हैं। वे मौका देखते हैं। अन्त में उस व्यक्ति का एक वेश्या से सम्पर्क हो गया। यद्यपि उसकी पत्नी विचारशीला थी पर उसे फूहड़ कह कर उसने त्याग दिया। पत्नी ने परमात्मा से प्रार्थना करनी शुरू की कि हे परमेश्वर, आप इन्हें सन्मार्ग में लाओ। परमेश्वर को हमारे साथ बड़ा स्नेह है। उसका हम में बहुत बड़ा स्वार्थ निहित है क्योंकि हम उसके पुत्र हैं। यदि एक बार भी हम हृदय से अपनी गलती मान लें तो वह हमें अपनी गद्दी का मालिक बना देता है। यह है उसका प्रेम सम्बन्ध। अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हिं सः।। (गी० ९/३०)

उसका स्वार्थ यह है कि परमेश्वर ने हमको किसी उद्देश्य के लिये बनाया है। यदि हमने वह उद्देश्य पूरा नहीं किया तो उसकी योजना खराब हो जायेगी। व्यक्ति अपना अभिनय करता है तो इसी बहाने शिव प्रसन्न हो जाता है और जीव का उद्धार हो जाता है।

एक दिन वह आदमी शराब पीकर आधी रात को आ रहा था तो अंधेरे में एक महात्मा से उसकी टक्कर हो गई। उसने महात्मा से कहा

क्या तुम भी शराब पिये हो ? महात्मा ने उसको चार थप्पड़ मारे और कहा कि मैं तो तुझ से चौगुना शराबी हूं और तुझ जैसे सौ शराबियों को भी संभाल सकता हूं। जानता है वह कौन सी शराब है जो मैंने पी रक्खी है ? मैंने ब्रह्म का नशा घोंटकर पी रक्खा है जिसके आगे विश्व भी कोई चीज नहीं है। अब तू अपनी बात कह कि तुझे कैसा नशा है। महात्मा तो समझते ही थे कि आधी रात को घर में पत्नी को छोड़ कर इस तरह शराब पीकर घूमने वाला आदमी सच्चरित्र नहीं हो सकता। उस व्यक्ति ने भी अपनी गलती महसूस की और महात्मा से क्षमा मांगी। महात्मा ने कहा कि मुझ से क्षमा मत मांग बल्कि घर जाकर अपनी पत्नी से क्षमा मांग। बात यह थी कि उसकी पत्नी की प्रार्थना को स्वीकार करके भगवान् स्वयं वहां महात्मा के रूप में आये थे। परमात्म-स्पर्श और परमात्म-दर्शन अमोघ होता है। उसी दिन से उसका जीवन बदल गया।

'कोऽहम्' मैं कौन हूं, यह प्रश्न मन में जब उठने लगता है तो पाप-प्रवृत्ति हटने लगती है। जब 'कोऽहम्' का विचार नहीं करते तो सारी गड़बड़ होने लगती है। यह विचार करो कि मैं कौन हूं, मुझे प्रेरयिता ने किस उद्देश्य से बनाया है। यदि यह विचार करते रहोगे तो कभी गलती नहीं करोगे। प्रेरयिता, संचालक की भावना को हमेशा याद रखो।

(३)

समग्र ब्रह्माण्ड का एक प्रयोजन है। उसी प्रयोजन से परम शिव का अखण्ड विश्व संकल्प है। महाकाल का काल में प्रकट होना ही सृष्टि है। जब तक अन्दर रहता है अव्यक्त कहा जाता है, एवं बाहर प्रकट होने पर व्यक्त। इसको छोड़कर अव्यक्त या माया नाम की कोई चीज नहीं है। अस्फुट भान का स्फुट भान हो जाना प्रकट हो जाना है। किसी नयी अभिव्यक्ति का होना नहीं। प्रेरयिता, भोक्ता और भोग्य तीनों ही शिव तत्व में अस्फुट हैं। अतः वह एक ही तत्व तीनों रूपों को धारण करने वाला कहा जाता है। पर इन तीनों रूपों

को धारण करने पर भी वह ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं है। भगवान् सुरेश्वर का कहना है 'अव्यक्तजगतो व्यक्तिरन्तर्यामीप्रभावत:' अव्यक्त जगत् की व्यक्ति अन्तर्यामी के कारण है, माया के कारण नहीं। महेश्वर अन्तर्यामी है, सर्व समर्थ है अत: वह किसी निमित्त से नहीं, वरन् स्वत: ही प्रेरयिता है। निमित्त स्वीकार करने पर उसके स्वातंत्र्य का संकोच मानना पड़ेगा। महेश्वर की परतन्त्रता उसके माहेश्वर भाव को ही खतम कर देगी। अत: यह सम्पूर्ण विश्व अन्तर्यामी का प्रभाव है। प्रभाव—अर्थात् प्रकर्षेण भवन। वस्तु का सम्यक् स्फुटन ही प्रभाव है। जब किसी की बात लोग स्वीकार कर लेते हैं तो उसे उसका प्रभाव कहा जाता है। यहां भी संकल्प का प्रकर्ष से भवन ही है। शिव के अन्दर सृष्टि अव्यक्त है। बाहर व्यक्त सृष्टि है।

परमात्म तत्व सृष्टि का अन्तर्यमन करते हुए किस प्रकार अपने को प्रकट करता है यह विचार के योग्य है। अणु से कलल के द्वारा उद्भिज्य एवं अण्डजों से होते हुए जरायुज पर्यन्त का क्रमिक विकास विज्ञान ने स्पष्ट कर दिया है। यहां सर्वत्र परमेश्वर की ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों का तारतम्य से उद्भव स्पष्ट ही है। अन्त में मनुष्य शरीर में यह पूर्णता को प्राप्त करता है।

सर्व प्रथम मनुष्य गर्भ में आता है जहां उसके ज्ञान-क्रिया-इच्छा बिल्कुल ही स्वतंत्र नहीं है। गर्भस्थ शिशु सर्वथा असमर्थ है। शारीर-शास्त्रियों का कहना है कि वह वहां सांस भी नहीं ले सकता। माता के श्वसन से ही वह प्राण को ग्रहण करता है। जब सांस लेने में ही असमर्थ है तो अन्य विषयों में असमर्थता कैमुतिक न्याय से सिद्ध है। उस घोर अन्धकार में आंख क्या देखे? मांस एवं वसा के ध्वनि-रोधों में से कान क्या सुनें? जहां क्रिया-ज्ञान का सर्वथा अभाव है वहां इच्छा में स्वातंत्र्य कहां से आयगा? कहा जाता है कि पांच माह का पैदा होने पर बचता नहीं। क्रिया ज्ञान का अस्तित्व ही वहां लुप्त है। पैदा होने पर इनका प्राकट्य प्रारम्भ होता है। आगे जैसे जैसे बढ़ता जाता है वैसे वैसे क्रिया-स्पन्द

एवं ज्ञान भाव प्रकट होता है। किन्तु उनका स्तर शरीर के सुख दु:ख को प्रकट करने की क्रिया एवं सुख दु:ख के ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इच्छा तो बुभुक्षा और पिपासा में ही गतार्थ है। धीरे धीरे ज्ञान एवं क्रिया के क्षेत्र बढ़ते जाते हैं। इनके साथ ही इच्छा के स्वातन्त्र्य में बढ़ोतरी आती है। इच्छा प्रकट हो गई कि मां ही गोद में ले, अन्य नहीं। क्रिया सुख दु:ख को निमित्त बना कर प्रवृत्ति और निवृत्ति का रूप धारण करती है। यही स्वतंत्रता में परतन्त्रता का बीज है। अपनी स्वतन्त्रता को सुख दु:ख के अधीन करके परतन्त्र बनता रहता है। बड़ा होने पर माता के पैर दबाता है, हाथों को दु:ख होता है, फिर भी पैर दबाना छोड़ता नहीं। यह स्वतंत्रता है। यदि वहां से भागता है तो परतन्त्र बन जाता है। थकने पर भी दबाना स्वतन्त्र इच्छा को बढ़ाना है। अण्डा खाने का जी करने पर खाने से परतन्त्रता बढ़ती है, एवं उसे निषिद्ध समझकर न खाने से स्वतंत्रता बढ़ती है। यदि ज्ञान क्रिया इच्छा में स्वतंत्रता को बढ़ाते गये तो वे परमात्मा की तरफ ले जायेंगे। यदि सुख दु:ख के अधीन होते चले गये तो परतन्त्रता बढ़ते हुए पशुभाव की प्राप्ति होगी। भगवान् शंकर लिखते हैं "पशुभिश्चाविशेषात्"। गाय भी हरी घास को देखकर दौड़ आती है एवं डंडा देख कर भाग जाती है। सुख दु:ख के कारण प्रवृति निवृति ही पशुता मानी जाती है। ऐसा परतन्त्र व्यक्ति मानवों की गिनती में नहीं आ सकता। पशुओं से मनुष्य की यही विशेषता है कि सुख देखकर भी उधर नहीं जाता एवं दु:ख देखकर भी नहीं भागता, यही स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता परतन्त्रता के वास्तविक भाव को न समझ कर देश समाज संस्कृति बर्बाद हो रहे हैं। संस्कृति का अर्थ होता है 'सुधरा हुआ'। मन के अनुसार करने वाला संस्कृत नहीं कहा जायेगा, वरन् उस पर नियन्त्रण करने वाला स्वतन्त्र होने के कारण संस्कृत है। आज स्वतन्त्रता का अर्थ लोग मानते हैं कि जिस में मन सुख माने उसे करो, जिसमें दु:ख माने उसे मत करो। काम करने में दु:ख मालूम पड़ता है एवं वेतन पाने में सुख। अतः सभी काम

किये विना वेतन पाना चाहते हैं। उत्पादन में कष्ट होता है अतः उत्पादन कम करके उपभोग्य वस्तुओं की वृद्धि चाहते हैं। पदार्थों को बेहतरीन बनाये बिना दाम बढ़ाना चाहते हैं। राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़ाये बिना विदेशों से आयात चाहते हैं। यही पशुता है। पर इसे स्वतन्त्रता मानते हैं। पदार्थ एवं मन पर पूर्ण नियन्त्रण ही स्वतन्त्रता कही जाती है।

हमारे नेता भी यही चाहते हैं कि किसी प्रकार मत मिले और चुनाव जीतें। अतः असम्भव आशायें देकर मतदाताओं को वरगलाते हैं। मतदाता भी स्वतन्त्रता से वोट नहीं दे पाते वरन् जान पहचान, जातिवाद, नारे या शराब की बोतलों के परतन्त्र होकर मतदान करते हैं। इसी का नाम जनमत है। जो जनता को प्रिय हो वह बोले जाओ और जो अपने को प्रिय हो वह किये जाओ। हमारा कहना है कि यदि जनता के मन का ही बोलना है तो फिर बोलने से लाभ ही क्या? उसे तो जनता पहले से ही जानती है। अप्रिय कटु पर लाभकारी उन्नति प्रद भाषण ही नेता को शोभा देता है। इसके अभाव में राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में स्थिति भयंकर होती जा रही है। एक बार पौष में सायंकाल कानपुर में कहीं जा रहे थे। एक जगह पण्डाल में चलचित्र के गाने बज रहे थे। आश्चर्य से पूछा कि अब क्या पौष में भी शादी होने लगी? लोगों ने कहा कि यहां शादी नहीं तुलसी के मानस की कथा होने वाली है। लोगों को इकट्ठा करने के लिये यह बजाये जा रहे हैं। हम स्तब्ध रह गये। धार्मिक सत्सङ्ग में आने के लिये चलचित्रीय गाने लगा कर लोगों को यदि इकट्ठा करना है तो उन गानों को सुनकर ईकट्ठे होने वाले किस सत्सङ्ग के रसिक होंगे। इससे तो भेड़ बकरियों को इकट्ठा कर लो। कहने का तात्पर्य है कि आज सत्सङ्ग में कौन आये यह विचार नहीं। न उनके जीवन में कितना परिवर्तन हुआ इसका ही ध्यान है। कितने आये और कितना लाये केवल इसी की कीमत रह गई है। जब धर्म क्षेत्र में यह हाल है तो कर्म क्षेत्र की कौन कहे। मजदूर, व्यापारी,

अफसर, अध्यापक सभी बिना काम किये पैसा कमाना चाहते हैं। कर्तव्य की दृष्टि सर्वथा लुप्त है। वक्ता भी श्रोता को परिष्कृत कैसे किया जाय, संस्कृत कैसे किया जाय, संस्कार कैसे डाले जायें इस ओर दृष्टि नहीं देता। श्रोता भी केवल सुनने के सुख मात्र को चाहता है, शिक्षा लेना नहीं चाहता। एक जगह बड़ा सुन्दर सुव्यवस्थित बगीचा देखा। अग्रिम वर्ष उसी को अत्यन्त अव्यवस्थित अवस्था में देखा। पूछने पर मालिक ने कहा चार माह के लिये पहाड़ चले गये थे अतः ऐसा हो गया। अब देखिये यदि एक सामान्य वनस्पति वर्ग का भी यदि प्रतिदिन संस्कार नहीं किया तो भ्रष्ट हो जाते हैं फिर सद्भावों का प्रवेश कराये बिना बच्चे कैसे संस्कृत होंगे ? अतः आज का जन सामान्य जंगली ही बना रहता है। केवल संख्या बढ़ती रहती है। पौधों की संख्या-वृद्धि उन्नति नहीं है। वे ठीक प्रकार से सुव्यवस्थित कतार में लगें तभी बगीचा उन्नत हैं। इसी प्रकार जनसंख्या का बढ़ना उन्नति नहीं वरन् काट छांट कर उन्हें मानव संस्कारों से युक्त करके व्यवस्थित बनाना ही उन्नति है।

संसार में अनेक देश हैं। उनमें से प्रत्येक का अपना उद्देश्य है। किसी का व्यापार, किसी का शासन, किसी का समाज व्यवस्था, तो किसी का वैज्ञानिक प्रगति। रोमन कानून विश्व कानून की आधार शिला बना तो ग्रीक-स्थापत्य विश्व स्थापत्य की आधार शिला बना। भारत का उद्देश्य क्या है ? मानव निर्माण ही भारत की विशेषता है। हमारा उद्देश्य था संस्कृत मानव का निर्माण। किन्तु आज उलटा हो गया है। इतने बी० ए० हो गये, इतने एम० ए० हो गये, इतने रुपयों का व्यापार बढ़ा, इतने गज कपड़े बने, इतने टन चीनी उत्पन्न की, यही सुनने को मिलता है। इस साल हमने कितने मानव बनाये इसका लेखा जोखा कोई नहीं रखता। आज तो पिता भी पुत्रों का निर्माण नहीं करता। पुत्र का लक्षण शास्त्रों में पुं नाम नरक से त्राण करने वाला बतलाया गया है। पुं माने शरीर। शरीर में मैं बन्द हूं यह भावना ही नर को सीमित कर देने के कारण नरक

कही जाती है। इससे त्राण अर्थात् ब्रह्म निष्ठा। अगर ऐसी आत्म निष्ठा वाला पैदा नहीं किया तो तुमने पुत्र नहीं बेटा पैदा किया। संस्कारों के द्वारा ही ऐसा शुद्ध पुत्र उत्पन्न किया जा सकता है अन्यथा नहीं। पारमेश्वरी क्रिया जीव के ज्ञान क्रिया को निरन्तर बढ़ा कर यहां तक पहुंचाती है। मानव में तीनों शक्तियों का विकास स्वतन्त्रता पूर्वक होना चाहिये, पशु की तरह परतन्त्रता पूर्वक नहीं। परतन्त्रता पशुता है। मानव स्वतन्त्र है।

जीवों में एक क्रमिक विकास दृष्टिगोचर होता है। सबसे नीचे शरीर ही को सब कुछ मानने वाले निम्नवर्ग के प्राणी हैं। शरीर को पुष्ट करने के लिये ही वे सारा कार्य करते हैं। जिस किसी प्रकार भोजन को लेकर हजम करना ही यहां एक मात्र कार्य है। परन्तु आगे एक विशेषता आती है। उन्नत देहों में वसा को भविष्य के लिये जमा कर लिया जाता है। प्रगति के लिये यहां प्राण शक्ति का अभिवर्धन है। एक कोषा से अनेक कोषा अभिवर्धित होते जाते हैं। जरूरत पड़ने पर एक जगह से दूसरी जगह पदार्थ पहुंचाये जाने लगे। दौड़ने पर पैरों को खून की जरूरत पड़ी, प्राण शक्ति ने हृदय से खून पहुंचाया। शक्ति की आवश्यकता हुई तो यकृत में से मीठा रस (Glycogen) वहां पहुंचाया गया। यह सब प्राणमय कोष का कार्य है। धीरे-धीरे नाड़ी संस्थान बढ़ा, इन्द्रियां आयीं, एवं मनोमय कोष अभिवृद्ध होने लगा। नाड़ी संस्थान चेतना को स्फुट करके प्राणमय शक्ति में भी अभिवृद्धि लाता है। शनैः शनैः ज्ञान-इच्छा-क्रिया बढ़ती जाती है। कूटपाद (Amoeba) को कुछ भी ज्ञान नहीं। जो भोजन सामने आ गया वह स्वतः निगल लिया गया। न सांस ली जाती है न और कोई क्रिया होती है। इच्छा तो सम्भव ही नहीं। नाड़ी संस्थान बढ़ने पर ही यह सब सम्भव है। एक काल में दो आवश्यकतायें आने पर अनाड़ी कुछ नहीं कर सकता। पेड़ की डाली कटी रस बहने लगा, पेड़ कुछ नहीं कर सकता। नीरा इसी प्रकार निकाला जाता है। यहां प्राण-मय कोष कार्य कर रहा है, किन्तु निर्णय का साधन नहीं है। हमारे कटने

पर रक्त में ऐसे तत्व बन जाते हैं जो खून के बहने को बन्द कर देते हैं। शनैः शनैः मानस तंतुओं का विकास होता है, विचार बढ़ता है, एवं स्नायु संस्थान की पूर्णता आती है। अब मनोमय कोष आ गया। प्राण क्रिया के साथ मानस क्रिया भी होने लगी। कब कहां क्या पहुचाना है का निर्णय होने लगा। हमेशा स्मरण रखें कि यह क्रमिक विकास काल में है महाकाल में नहीं। वस्तुतः महाकाल की छाया ही विकास है। केले के छिलके पर पैर पड़ा और हम फिसल गये। चोट कूल्हों पर आनी चाहिये थी किन्तु आई हाथ में। मन जानता है कि कूल्हे का टूटना भयानक है अतः हाथ अपने आप सारे कष्ट को झेल लेता है। यह केवल प्राण का कार्य नहीं हो सकता। वनस्पति तक अन्नमय एवं प्राणमय केवल दो कोष ही व्यक्त हैं। पशु में मनोमय भी है। अन्नमय और प्राणमय तक सर्वथा ईश्वर का नियन्त्रण चलता है। मनोमय में जीव का स्वातंत्र्य आता है। अब आगे हममें विज्ञान और आनन्द को बढ़ाने की सामर्थ्य स्वतंत्रता को विकसित करने से आयेगी। परमेश्वर का तो प्रति जीव निमित्तक एक विशेष संकल्प है ही। परन्तु मानव में वह जीव स्वातंत्र्य सापेक्ष्य है। मेरी स्वतंत्रता का सहयोग शिव भावना को पूर्ण करने में गतार्थ हो इस भाव से ही सम्पूर्णता सम्भव है। पशु से मानव की विशेषता विज्ञान है, एवं उसे आगे आनन्द तक पहुंचना है। यदि मानव भी पशु पक्षियों की तरह गुलामी से विकसित हुआ तो उसकी न विशेषता है और न मुक्ति की संभावना है। महाराजा जोधपुर को जहर खिलाने का भय था। अतः खाने से पहले भोजन को कुत्ते बिल्ली के सामने रखा जाता था। चूंकि पशुओं में जनाने वाली शक्ति अन्दर बैठी है अतः परतंत्रता से ज्ञान हो जाता है। मनुष्य में यह सम्भव नहीं, यहां क्रिया की स्वाधीनता है। जब मनुष्य को भोजन में जहर का ही बुरापन नहीं पता लगता तो मांस की बुराई का कैसे पता चले। पशु खाद्य ही खायेगा। मनुष्य अखाद्य भी खा सकता है। यह चुन सकने की सामर्थ्य ही स्वतंत्रता है। आज का मानव इस स्वतंत्रता को मार कर पशु बनने में गौरव अनुभव करता है। लोग कहते हैं हम

कुत्ते बिल्ली की तरह स्वाभाविक क्यों नहीं रह सकते। ऐसे लोग पशु को ही अपना आदर्श मानते हैं। वर्तमान मनोविज्ञान एवं शरीर विज्ञान पशु के ऊपर प्रयोग करके उनका मानवों में अतिदेश करते रहते हैं। इस प्रकार के आदर्श को मानने पर पाप वृद्धि एवं उससे पशुयोनि ही नहीं वृक्ष योनि पर्यन्त मानव पहुंच सकता है। श्रुति कहती है 'स्थाणुमन्येनुसंयान्ति यथाकर्म यथा श्रुतम्'। 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य'। अर्थात् अपने कर्म एवं उपासना के अनुसार ही अग्रिम जीवन बनता है। जब तक इस स्वतंत्रता की प्राप्ति न होने के कारण जीव में शिव संकल्प की ही स्वतंत्रता होती है, तब तक तो वे परम मंगलमय नित्य उन्नति ही करते रहते हैं। उनके साम्राज्य में पीछे नहीं धकेला जाता। ठीक भी है, पीछे खींचने के लिये खींचने वाले को पीछे आना पड़ता है एवं वे सदा आगे हैं। यहां तक क्रमिक विकास है। मानव योनि में स्वातंत्र्य प्रदान करके स्वयं ही आगे बढ़ने अथवा पीछे हटने की सामर्थ्य दी गई है। यहां शिव संकल्प नहीं जीव संकल्प प्रधान है। मानव शरीर में प्रत्यक्ष ही स्वातंत्र्य का विकास दृष्टिगोचर हो रहा है। परमेश्वर की मिट्टी से आलीशान मकान बनाये जा रहे हैं, जल प्रवाह में से बिजली निकाली जा रही है, आणव शक्ति से यान चल रहे हैं। इस प्रकार भौतिक जगत् में स्वतंत्रता के सदुपयोग से उन्नति प्रत्यक्ष सिद्ध है। दूसरी तरफ इसके दुरुपयोग से पक्षियों तक में पाया जाने वाला दाम्पत्य प्रेम भी धन पर बलि चढ़ाया जा रहा है। असत्य के द्वारा जीवन को प्रतिक्षण सन्देह ग्रस्त करके मानस रोगों को बढ़ाया जा रहा है। एक मानव दूसरे मानव को परास्त करने में अपना गौरव मानता है। इस प्रकार स्वतंत्रता के उपयोग से नैतिक जीवन में पिछड़ते चले जाना भी प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। इसी विषय को समझाने के लिये मार्कण्डेय पुराण में नमुचि दानव की कथा आती है जिसे इन्द्र ने मारा था। उसका भाई मय इन्द्र को नष्ट करने के लिये तपस्या करने लगा। यह वही मय था जिसने इन्द्रप्रस्थ नगर को बसाया था

जो आज की दिल्ली है। भारत का दुर्भाग्य है कि इसकी राजधानी के स्थपति (Architect) का बुत कौन कहे नाम भी कहीं नहीं लगा हुआ है। हम विश्व की चिन्ता में लगे रहते हैं एवं अपने देश के रत्नों का अपमान करते रहते हैं। शेक्सपीयर और हेमिंग्वे की समालोचना करने वाले भारतीय भारत के वाण भट्ट के नाम तक से अपरिचित होते हैं।

इन्द्र को मारने के लिये मय ने तपस्या की। इन्द्र ने साम का आश्रयण किया। ब्राह्मण के वेश में जाकर मित्र बनने की प्रार्थना की एवं अभय दान मांगा। मय ने भी स्वीकार कर लिया। तब इन्द्र ने अपना परिचय दिया एवं गले लगाकर कहा अब वैर समाप्त कर दो एवं पिछली बातों को भूल जाओ। मय ने स्वीकार कर लिया किन्तु उसके सम्बन्धियों का मन द्वेष से भरा रहा। वे इन्द्र को मारने के प्रयत्न में लगे रहे। कश्यप की पत्नी दिति से उन्होंने प्रार्थना की कि वे कश्यप से इन्द्र-मारक को पैदा करें। सेवा से प्रसन्न कर कश्यप से जब दिति ने ऐसे प्रतापी पुत्र की मांग की ज़ो इन्द्र को मारने वाला हो तो कश्यप स्तब्ध रह गये क्यों कि इन्द्र भी अदिति के द्वारा उत्पन्न कश्यप का ही पुत्र है। किन्तु वरदान पूर्ण करने के लिये कश्यप ने उत्तम योग में दिति को गर्भ दान दिया, एवं ऐसे नियम बतलाये जिनका नियम पूर्वक पालन करके वह प्रतापी पुत्र को उत्पन्न कर सकेगी। औरत के पेट में बात पचती नहीं अतः उसने सबसे कहना शुरू कर दिया कि मेरा भावी पुत्र इतना प्रतापी होगा कि इन्द्र को भी मारने में समर्थ हो जायेगा। मय ने भी इस बात को सुना। मित्रता के नाते उसने इन्द्र को सूचित कर दिया। यही मित्रता का आदर्श है। दानव भी धर्म से वैदिक ही होते थे। उसने जाकर इन्द्र से कह दिया। इन्द्र पिताजी के पास पहुंचा एवं उनकी राय से दिति की सेवा करने लगा। जब तक धर्म का उल्लंघन नहीं होता तब तक विघ्न आना असम्भव है। दिति सावधानी से धर्म तत्पर थीं एवं छिद्रान्वेषण में इन्द्र रत था। एक दिन आलस्य वश दिति सूर्यास्त काल में दक्षिण की ओर पैर करके सो गई। दोनों ही निषिद्ध कार्य थे। बस इन्द्र को मौका मिल

गया। उसने गर्भ में प्रवेश करके बालक के टुकड़े करने प्रारम्भ किये। बालक चिल्लाया "अरे इन्द्र! तुमको यह शोभा देता है क्या ?" इन्द्र ने उत्तर दिया "नीति शास्त्र का निर्णय है कि दुश्मन और रोग को बढ़ने न देकर तुरन्त समाप्त कर देना चाहिये।" परन्तु बालक भी घोर प्रतापी था। इन्द्र के सात टुकड़े करने पर वे सात बालक बन गये। इन्द्र ने पुनः उनके सात सात टुकड़े कर दिये। दिति जग उठी। उसकी आवाज सुन कर कश्यप भी आ गये। कश्यप के कहने पर इन्द्र बाहर निकल आया। दिति कहने लगी 'बलवान पुत्र तो नष्ट हो गया।' कश्यप उन उदरस्थ बालकों के रोने के कारण कुछ सुन नहीं पा रहे थे। अतः उन्हें डांट कर कहने लगे 'मा रुतः, मा रुतः' इसी से उनका नाम मरुत पड़ गया। कश्यप ने इन्द्र से कहा तू इन बच्चों को जिन्दा छोड़ दे। इन्द्र ने इस शर्त पर स्वीकृति दी कि वे उसके मित्र बने रहें। इस प्रकार एक विनाशक शत्रु की जगह ४६ मित्र मिल गये। दिति नियम पालन में स्वतंत्र थी। तत्प्रयुक्त प्रमाद के कारण ही उसका उद्देश्य पूरा न हो सका। अप्रमादी इन्द्र सफल हुआ।

वस्तुतः इस दृष्टान्त से पुराणकार आध्यात्मिक जीवन का निर्देश कर रहे हैं। न मुचि अर्थात् जिसका कभी मोक्ष न हो, ऐसे अज्ञान को इन्द्र ने नष्ट कर दिया। अज्ञान का भाई मय ही प्रारब्ध कर्म है। तात्पर्य हुआ कि नमुचि नामक अज्ञान को ईश्वर रूपी इन्द्र ने नष्ट कर दिया। अन्तःकरण वृत्ति में ब्रह्म का स्वच्छ प्रकाश ही ईश्वर है। नित्य मुक्त होने के कारण ईश्वर में बन्धन की सम्भावना नहीं। मयरूपी प्रारब्ध ईश्वर का ही संकल्प है अतः दोनों में मित्रभाव है। दिति अर्थात् जो काटी जा सके। यह काल में महाकाल के प्रतिबिम्ब का खण्ड खण्ड रूप से प्रकाशित होना है। यह खण्ड भाव ही बन्धन है। खण्ड दृष्टि ही मानो ईश्वर की हत्या है। सर्वव्यापक को परिच्छिन्न मानना ही उसे मारना है। क अर्थात् सुख को जो पश्यति अर्थात् देखता है वही कश्यप है। निरुक्तकार कहते हैं। 'पश्यक एवं कश्यपः'। अतः वेद ही कश्यप है। वही

प्रवृत्ति मार्ग के द्वारा दिति की सन्तति उत्पन्न करते हैं, एवं निवृत्ति मार्ग के द्वारा अदिति की। अन्त में जब प्रवृत्ति मार्ग से उत्पन्न सभी खण्ड परमेश्वर के कार्य में लगा दिये जाते हैं तब पूर्ण सुख की उपलब्धि हो जाती है।

दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख ये सात इन्द्रियां हैं। इनका ही विषय भेद से ४६ रूप में बंट जाना है। इन्द्र को जोड़ कर ये पचास भाई हैं। ये सभी जब इन्द्र रूपी परमेश्वर के मित्र बन गये तब प्रवृत्ति और निवृत्ति का भेद मिट गया और पूर्णता की प्राप्ति हो गई। इसीलिये वेद कहता है। 'मा रुतः' अर्थात् विषयों की तरफ जाकर, हे इन्द्रियो, तुम मत रोओ, वरन् ईश्वर से युक्त होकर सुखी हो जाओ।

प्रेरयिता का इस प्रकार स्वतन्त्रता पूर्वक हमारी वृद्धि में सहयोग है। महाकाल की कल्पना के द्वारा काल में क्रमिक विकास करते हुए ज्ञान, इच्छा, क्रिया के संघट्ट के द्वारा स्वतंत्रता की पूर्णता रूपी परमेश्वर की प्राप्ति ही इसका इष्ट है।

(४)

परमात्म तत्व का ज्ञेय, उपास्य, भोक्ता, भोग्य और प्रेरक भाव का विचार किया गया। अणु से लेकर समग्र ब्रह्माण्ड का अपनी तरफ प्रेरणा करना उसके लिये स्वाभाविक है। वह आनन्दस्वरूप है एवं अनन्त है। इन दो की प्राप्ति ही सृष्टि का उद्देश्य है। यही ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति है। अन्नमय कोष से मनोमय पर्यंत वह शिव भाव से प्रेरक है, एवं विज्ञानमय में स्वतंत्रता का आधान करके जीव भाव से भी वही प्रेरक है। इसके पूर्व सभी जीवों एवं पदार्थों का संचालन प्रकृति द्वारा होता है। किन्तु स्वतन्त्रता की अभिवृद्धि होने से इसके आगे जीव के भी सहयोग की आवश्यकता होती है। मनुष्य में इसकी प्रथम अभिव्यक्ति है। मनुष्य से उन्नत देव, गन्धर्व, यक्ष आदि देहों में यह स्वतन्त्रता धीरे-धीरे बढ़ती है। विचार करने पर पता लगता है कि सारी पृथ्वी के सौन्दर्य का मुकुट रूप मनुष्य ही है। इसीलिये श्रीकृष्ण कहते हैं कि

एकद्वित्रिचतुष्पादो वहुपादस्तथाऽपदः वह्वयः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया। (श्रीमद्भागवत ११।७।२२) स्वयं ही सुन्दर हो ऐसा नहीं बल्कि चारों तरफ सौन्दर्य के विकास में उसका बड़ा हाथ है। साहित्य एवं कला का सौन्दर्य मानव-सृष्ट है। ईश्वरसृष्ट पदार्थों को उसने सुन्दर-तर बनाया। चारों तरफ फैलने वाली डालों को काट कर उसने गगन चुम्बी नीलगिरि (Eucalyptus) बनाया। लज्जा का प्रादुर्भाव हुआ तो अपनी स्वतंत्र वुद्धि का प्रयोग कर पत्तों के परिधान का निर्माण किया। अनन्त काल नंगा रहने पर भी किसी पशु के अन्दर लज्जा का भाव आया ही नहीं। लज्जा भी स्वतंत्रता में ही सम्भव है। आदिम अमानव में जब तक स्वतंत्रता पनपी नहीं थी, तब तक वहाँ भी लज्जा का भाव नहीं था। दो साल तक के बच्चे में लज्जा का भाव नहीं होता, अतः उसे एक वस्त्र भी फाँसी की तरह लगता है। बड़ा होने पर, अर्थात् स्वतंत्रता का उद्‌बोध होने पर, वस्त्र के बिना उससे रहा ही नहीं जाता। पत्तों से सन्तोष नहीं हुआ तो पेड़ की छाल का प्रयोग करने लगा। हथियारों का निर्माण हो जाने पर छाल के जल्दी-जल्दी फटने से असन्तुष्ट होकर चमड़ा पहनना शुरू किया। अन्त में रुई का निर्माण हुआ। उसके खुरदरेपन से बचने के लिये रेशम को पहनने लगा। उनकी अस्थायिता एवं धौतता की कठिनाइयों ने नाइलौन और टेरेलीन को पैदा किया। यह सब मनुष्य की स्वतंत्रता ही है। परमेश्वर के बनाये अनगढ़ पत्थरों को काट छांटकर ताजमहल बनाया। ध्वनियों को नियन्त्रित कर संगीत का निर्माण किया। स्वातंत्र्य शक्ति से विकास करते हुए सुन्दर से सुन्दर चीज बनाने में सफल होना केवल मनुष्य की शक्ति है। अतः मनुष्य ही पृथ्वी का शृंगार है। आज का मनोवैज्ञानिक इस स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति को समाप्त करके मनुष्य को भी अन्य पदार्थों की तरह नियन्त्रित वनाने का प्रयत्न कर रहा है। ऐसे प्रयोग पहले भी हुए हैं। सभी अधिनायक मनुष्य को बेड़ियों में जकड़ना चाहते हैं। चाहे वे धर्म के अधिनायक हों, चाहे समाज के या राज्य के। पर मानव फिर-फिर इन बेड़ियों

से निकल जाता है। शिव योगी तो यह मानते हैं कि बन्धन में डालने का प्रयत्न भी उस मानव की स्वतंत्रता को ही सिद्ध करता है। अनेक मत मतान्तर, मजहब, धर्म आदि भी मानव को पशु की तरह पाश में ही बांधना चाहते हैं। जो जीव को परमात्मा के नित्य परतंत्र मानते हैं, वे उसे देव-पशु ही मानते हैं। ऐसे विचारकों का विचार बतलाते हुए भगवान् पद्मपादाचार्य लिखते हैं 'अपि वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं स इच्छति' अर्थात् वृन्दावन में सियार बन जाने को अनंत आनन्द की प्राप्ति से श्रेष्ठ समझते हैं। ऐसे लोग परतन्त्रता को सुख समझते हैं। आज के अनेक भारतीय व्यापार से नौकरी को श्रेष्ठ मानते हैं। चाहे भगवान् पर, चाहे प्रकृति पर, चाहे प्रारब्ध पर, चाहे ग्रहों पर, चाहे समाज पर, यह बोझ क्यों न छोड़ा जाय, दूसरे पर बोझ छोड़ने में जो जिम्मेदारी की कमी महसूस होती है वह मानव में पशुता का विकास है। मानव अपने स्वातंत्र्य में गर्व अनुभव करता है, एवं सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेने से घबराता नहीं है। वह शिव का प्रिय पुत्र है। अतः वह सारे ब्रह्माण्ड का नायक अपने को मानता है। स्वतंत्र रहने की सामर्थ्य होने पर भी अनेक विचारधाराओं से प्रभावित होकर वैदिक हिन्दू के धर्म कर्म की सारी विचारधाराओं में परतंत्रता का भाव प्रविष्ट हो गया, एवं मध्य कालीन सन्तों ने इसे दृढ़तर बना दिया। जब तक इस बन्धन को हम नहीं तोड़ पायेंगे तब तक विश्व नाटक में हमेशा पिछड़े ही रहेंगे। और तो क्या लोग चाहते हैं कि हमारे बिना कुछ किये भगवान् हमको मुक्त भी करदें! बन्धन को मुक्ति मानने का इससे अधिक वदतोव्याघात कहाँ मिल सकता है ? स्वतंत्रता का चरम विकास ही मोक्ष है। स्वयं अपने परिश्रम और प्रयास से मोक्ष के उपभोग का भाव होना ही योग्य है।

स्वतंत्रता और ज्ञान दोनों अयुत सिद्ध हैं। बन्धन का निरूपण करते हुए कहा गया है "स्वातंत्र्यहानिर्बोधस्य स्वातंत्र्यस्याप्यबुद्धता" अर्थात् ज्ञान का पराधीन यानी इन्द्रियमनोधीन हो जाना, एवं स्वतंत्रता का

यानी अपरिच्छिन्नता का ज्ञान न होना ही बन्धन है। वैदिक धर्म में यज्ञ ही सबका मूल माना गया है। प्रज्वलिताग्नि में मन्त्र पूर्वक आहुति देना ही यज्ञ का स्वरूप है। वस्तुतः हमारे हार्दाकाश में निरन्तर ज्ञानाग्नि प्रदीप्त है जिसमें मन के द्वारा इन्द्रियों की स्रुक-स्रुवा के द्वारा विषयों की आहुति दी जा रही है। यही सारे यज्ञों की प्रकृति है। आचार्य शंकर लिखते हैं "नाना छिद्र-घटोदर-स्थित-महादीप-प्रभा भास्वर" जिस प्रकार बत्ती तेल को नीचे से ऊपर खींच कर जलाती है उसी प्रकार अनन्त काल की वासनाओं को खींच-खींच कर जलाया जा रहा है। वस्तुतः सर्वव्यापक अग्नि तेल को जलाने के काल में एक देश में प्रकट हुई प्रतीत होती है, क्योंकि अग्नि वहां तेल की उपाधि से युक्त है। उसी प्रकार सर्वव्यापक ज्ञान वासनाओं को जलाते काल में प्रकट होता है। समग्र तेल के समाप्त हो जाने पर पुनः सर्वव्यापक अग्नि ही रह जाती है। उसी प्रकार समग्र वासनाओं के समाप्त हो जाने पर एक मात्र शिव-ज्ञान ही रह जाता है। फिर प्रयोजन के समाप्त हो जाने से सर्वव्यापकता ही सर्वव्यापकता रह जाती है।

जीवन का अर्थ है संघर्ष अर्थात् वासनाओं को जलाना। जीना शान्ति नहीं है। शान्ति तो जीवन की समाप्ति के बाद है। शिव शक्ति सामरस्य में, पूर्णता में, प्रवृत्ति-निवृत्ति-तादात्म्य में ही शान्ति का अनुभव सम्भव है। इसके विपरीत जीवन एक संघर्ष का स्थल है। दीप की ज्योति तभी तक जलेगी जब तक तेल प्राप्त होता रहेगा। इसी प्रकार यह ज्ञान-दीप भी तभी तक जलता रहेगा जब तक वासनाओं को ऊपर लाकर जलाते रहोगे। वासनायें जलना नहीं चाहतीं, इसी लिये संघर्ष है। प्रयास पूर्वक ऊर्ध्वमुखी करने पर ही वे जलती हैं। कर्म समुद्र में निरन्तर लहरें उठकर वासनाओं को उद्दीप्त करती रहती हैं। वासनायें रागद्वेषादि की धूल को उत्पन्न करके आत्मज्योति को धूमिल करती रहती हैं। कर्मों के द्वारा उद्दीप्त वासनाओं को तरतीब और तदबीर से ऊर्ध्वमुखी करते जाना विलक्षण-धी-सम्पन्न का कार्य है। राग द्वेष प्रकाश को क्षीण हुआ सा दिखलाता है, परन्तु उसे वस्तुतः

धूमिल नहीं कर सकता। धूल-आंधी के समाप्त हो जाने पर पुनः उसका पूर्ण प्रकाश प्रकट हो जाता है। ऐसा ज्ञान का प्रकाश अज्ञान-अन्धकार को नष्ट कर देता है। इसी यज्ञ के लिये श्रुति कहती है 'यज्ञो वै विश्वस्य नाभिः' (तै० आ० १०)। मानव की नाभि में दैहिक-जाठराग्नि प्रज्वलित है। यहां भी जब तक बलि नहीं चढ़ाई जायेगी अग्नि जलती ही रहेगी। बाह्य यज्ञ में भी बलि आवश्यक है। अनेक यज्ञों में पशु बलि आवश्यक है। वस्तुतस्तु पशु बलि ही यज्ञ का प्राण है। परन्तु पशु बलि के तात्पर्य को समझना आवश्यक है।

शब्द का अर्थ क्या होता है इस विषय में अनेक मतभेद हैं। कोई जाति मानते हैं, कोई व्यक्ति, कोई जाति विशिष्ट व्यक्ति। तात्पर्य है ब्राह्मण शब्द का अर्थ जब पहले पहल बालक को बताया जाता है तो वह उसका अर्थ निर्दिष्ट व्यक्ति को समझता है। परन्तु ऐसा मानने पर दूसरे ब्राह्मण को देखकर 'यह ब्राह्मण है' ऐसा ज्ञान संभव नहीं। इस प्रकार के ज्ञान के लिये ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मणत्व स्वीकार करना पड़ता है। मीमांसा इसी लिये शब्द का अर्थ जाति मानती है। अर्थात् ब्राह्मण शब्द का अर्थ ब्राह्मणत्व जाति, गो शब्द का अर्थ गोत्व जाति। अविचारशील अवश्य ही व्यक्ति परक अर्थ समझ लेते हैं। इसी प्रकार पशु का अर्थ पशुत्व जाति है। अतः पशु बलि से श्रुति का तात्पर्य पशुत्व की बलि में है। व्यक्ति की नहीं, जाति की बलि देनी पड़ेगी। पाश से बद्ध होना ही पशुता है। पाश को पुनः परमेश्वर को समर्पण कर देना ही स्वयं उससे मुक्त हो जाना है, यही पशुता की बलि है। इसी प्रकार अश्वमेध का तात्पर्य इन्द्रियों की बलि देकर उन्हें पवित्र करना है। इन्द्रियों की परतंत्रता पाश, इन्द्रियों को परमेश्वर के परतंत्र कर देना बलि, इस उपाय से इन्द्रियों से स्वतंत्र हो जाना ही यज्ञ का फल हुआ। मानव ही पशुत्व और देवत्व का एकाधिकरण है। पशुता की बलि देकर वह देव बन जाता है, एवं देवत्व की बलि देकर पशु। जब तक दोनों का संघर्ष है तब तक वह मानव हैं। वासनाओं को

ऊर्ध्वमुखी जलाना देवत्व की तरफ ले जाने वाला होने से यज्ञ है। वासनाओं को नीचे की तरफ ले जाकर पशु बनता है।

काम या विषय-सुखाभिलाषा ही सबसे बड़ा पाश है। यही हमें परतंत्र बनाती है। इस पर नियन्त्रण पाने से ही हमारी मानवता दृढ़ होगी। पशु एवं दानव अलग-अलग चीजें हैं। स्वतंत्रता को खोने से हम पशु बनते हैं, एवं स्वतंत्रता का दुरुपयोग करने से दानव। इसी लिये कहीं-कहीं पुराणों में दानवों को उच्च योनि भी कह दिया है। विचार दृष्टि से तो अव्यक्त-स्वातंत्र्य या अव्यक्त-मनुष्यता पशुता है, एवं उपलब्ध स्वातंत्र्य का पुनः पाशव उद्देश्यों में प्रयोग दानवता है। हिरण्यकशिपु, रावणादि में यह स्पष्ट है। तपस्या के द्वारा इन्होंने शक्ति प्राप्त की परन्तु उसका उपयोग निम्न उद्देश्यों के लिये किया। इसी लिये दानवों का विनाश आवश्यक हो जाता है। पशुता का नाश नहीं किया जाता, बलि दी जाती है। इस स्वतंत्रता की प्राप्ति से ही यज्ञ की पूर्णता है।

ऋग्वेद कहता है 'इच्छन्ति देवाः सुन्वताः' (ऋ० ६) देवता लोग ऐसे व्यक्तियों को चाहते हैं जिन्होंने पशुता को अच्छी तरह निचोड़ कर निकाल बाहर किया है। जो केवल बैठे बैठे स्वप्न देखने वाले होते हैं ऐसे परतंत्र व्यक्तियों को देवगण अपना स्नेह नहीं देते। अनेक व्यक्ति सोचते रहते हैं कि चीन ने हमें हरा लिया तो क्या वहां भी जन संख्या बढ़ रही है, विप्लव हो रहे हैं, अतः वे स्वयं ही यहां से बाहर निकल जायेंगे, हमें कुछ करने की आवश्यकता नहीं। ऐसे परतन्त्र मनोराज्य वालों को देवता नहीं चाहते, अतः मदद भी नहीं करते। देवताओं को वेदों में परमात्म शक्ति ही कहा गया है। अतः परमात्मा की कोई भी शक्ति ऐसे स्वप्न देखने वालों की मदद नहीं करती। अन्यत्र भी वेद कहता है कि तंद्रा, प्रमाद को नष्ट करने वाले ही आगे बढ़ पाते हैं। इस आदर्श को हमेशा सामने रखना चाहिये।

बलि देना महान् साहस का कार्य है। महान् उद्देश्य के लिये प्राप्त अल्प पदार्थ को खोने की हिम्मत होना ही बलि दाता की मानस स्थिति

है। जिसमें कुछ खोने की हिम्मत नहीं वह कभी बलि नहीं दे सकता। भूमि में एक मन अनाज की बलि देने की हिम्मत वाला ही पांच सौ मन अनाज पैदा कर सकेगा। पानी न बरसा, या अधिक बरसा तो यह एक मन भी खराब हो जायेगा, इस प्रकार का साहस हीन व्यक्ति कृषक नहीं बन सकता। अगर सामान खरीद लिया और दाम घट गया तो पूंजी नष्ट हो जायेगी, इस प्रकार का साहस हान व्यापारी नहीं बन सकता। दूसरे राष्ट्र पर चढ़ाई कर देंगे और हार गये तो घर का राज्य भी चला जायेगा, ऐसा व्यक्ति विजेता नहीं बन सकता। वेद पढ़ने में अत्यन्त क्लेश करने के बाद यजमान या यज्ञ न हुए तो क्या होगा, ऐसा सोचने वाला कर्मकाण्डी न बन सकेगा। अनेक बी० ए० पास जूतों की सफाई करते हैं ऐसा सोचने वाला पढ़ न सकेगा। माघ मास में गंगा में गोता लगाने से जुखाम का भय करने वाला पुण्य न कमा सकेगा। इस प्रकार सर्वत्र भावी फल में निश्चित विश्वास करके वर्तमान में कुछ खोना ही सभी सफलताओं की कुञ्जी है। यही बलि है। जिसका जितना अधिक साहस होगा वह उतनी हीं बड़ी बलि दे सकेगा एवं महान् फल भोग सकेगा। जो शरीर से लेकर अहं तक की बलि दे डालेगा वही परम स्वातन्त्र्य रूपी फल को प्राप्त कर सकेगा। पशुता को छोड़कर मानवता को अपनाना एक बहुत बड़ा साहस का कार्य है। आज के युग में तो यह और भी आवश्यक है। चोर बाजारी को छोड़ना, घूस न लेना, झूठ न बोलना, आदि कार्यों से होने वाली हानि प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतः इनको छोड़ना भी साहस से ही सम्भव है। स्वयं शिव ने जीव को स्वतन्त्रता देकर उसको साहसी बनाने के लिये प्रेरणा दी है। पुत्र यदि पिता की आज्ञा को तोड़ करके उसके मुकाबले में दूकान खोल करके सफल हो जाता है तो योग्य पिता को इससे आज्ञाकारिता की अपेक्षा भी अधिक प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार सदाशिव हम सबसे प्रेम करते हैं। पशु पक्षियों से भी उनका प्रेम है। परन्तु स्वतन्त्रता पूर्वक सफलता प्राप्त करने वाले से उनका प्रेम अतिशय होता है। इसी लिये गीता

में ज्ञानी को अपनी आत्मा बताया गया है 'ज्ञानीत्वात्मैव मे'। साहस हीन व्यक्ति आर्त आदि भक्तियों में ही पड़कर परतन्त्र बने रहना चाहते हैं।

प्राय: प्रश्न होता है क्या यज्ञ का फल होगा भी या नहीं? किसी ने कहा है "मैं चिर सुदूर में शिव को नहीं दिखाता, मैं वर्तमान को स्वर्ग बनाता जाता"। यज्ञ करने वाला किसी भविष्य काल में उसका फल स्वर्ग या मोक्ष पायगा यह चिन्ता वैदिक नहीं करता। यज्ञ का सम्यक् पालन करने वाला प्रतिक्षण भूमानन्द में बना रहता है। भगवान् विद्यारण्य प्रत्येक विषयानन्द को ब्रह्मानन्द में परिणत करने का उपाय इसीलिये विस्तार से बताते हैं। वस्तुतः विषयजन्य आनन्द भी ब्रह्मानन्द से कोई अलग जाति का नहीं है। कारण की परिच्छिन्नता से कार्य भी परिच्छिन्न हो जाता है, यह बात दूसरी है। अतः विषया-भाव काल में, विषय स्पर्श काल में, विषय नाश काल में, विषय बाध काल में, एवं निर्विकल्प काल में समान रूप से स्वतन्त्र, अनन्त आनन्द स्वरूप शिव में स्थित रहना ही वैदिक दृष्टि है। इस प्रकार धर्म केवल पारलौकिक पदार्थ नहीं रह जाता, वरन् सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक हो जाता है। पूर्ण स्वातन्त्र्य ही सारे धर्मों की परि-समाप्ति है। शिव को प्रेरयिता स्वीकार करने पर ही यह सम्भव है।

(५)

परमात्म तत्व के स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रुति बतला रही है कि यद्यपि वह तत्व अपने स्वरूप से सर्वानुभवसिद्ध और ज्ञान का विषय है, तथापि वही औपाधिकरूप से उपासना का विषय भी बन ज़ाता है। वही परमात्मतत्व विद्या उपाधि के द्वारा प्रेरयिता रूप से उपासना का विषय बनता है और अविद्या उपाधि से वही भोक्ता और भोग्य रूप बनता है। एक अखण्ड स्वरूप परमात्मा विना विकार के ही अपने स्वरूप को बदल कर ब्रह्माण्ड रूप बन जाता है, संसारी पदार्थ तो अपने को बदल कर अनेक रूप बनते हैं, परन्तु परमात्मा बिना

बदले ही अनेक रूप बनता है। अतः उसको अविकारी कहते हैं। यही उस परमात्मा की विलक्षणता है।

यदि धागे को बदल कर उससे कपड़ा बना लो तो कपड़े से धागे का काम फिर नहीं ले सकते और कपड़े को बदल कर यदि कमीज बना लो तो उससे पैंट का काम नहीं ले सकते और पैंट बनने पर फिर उससे टोपी का काम नहीं ले सकते। इस प्रकार संसारी पदार्थों में विकार बढ़ते ही चले जाते हैं और कोई चीज अपने पूर्व रूप में नहीं रह पाती। किन्तु परमात्मतत्व की यह विलक्षणता है कि यद्यपि वह अनन्त जगत् रूप में बन गया है, और इतना असीम है कि दो बार कभी एक जैसा नहीं बनता एवं इसीलिये वह अव्यय कहलाता है, तथापि इतने नानात्व को प्राप्त होते हुए भी वह अपरिवर्तित ही है। 'पश्य मे योगमैश्वरम्' —अपरिवर्तनशीलता ही ईश्वरीय योग है। हमारे योग में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है; एक क्षण भी ऐसा नहीं है जिसमें हम पूर्व स्पन्द से भिन्न प्रकार के स्पन्द को न प्राप्त कर लेवें, पर परमेश्वर का योग अपरिवर्तनीयता है। योग शास्त्र में कहा गया है "सर्वे भावाः क्षणपरिणामिनो ऋते चिच्छक्तेः" चित् शक्ति के अलावा सभी अन्य भाव क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं। यह परिवर्तन इतना तीव्र है कि बौद्ध यहीं आकर अटक गये। चूंकि हर चीज प्रतिक्षण बदलती जाती है अतः यह निर्णय कर लिया कि संसार परिवर्तनशील है। क्षणिक विज्ञानवाद ही बौद्धों का अपना सिद्धान्त है। यद्यपि उस अखण्ड शक्ति में कोई परिणाम या परिवर्तनशीलता नहीं है, पर अन्य भावों में परिवर्तन इतनी तीव्र गति से होता है कि स्थिरता का पता ही नहीं लगता।

आजकल बच्चों के कुसंग का अड्डा सिनेमा है। उसी का दृष्टान्त लेकर यह बात समझ में आ सकती है। सिनेमा में भी दृश्य पर्दे पर ही नजर आता है। वह पर्दा ही सारे रूप धारण करता है। पर्दा ही पानी के आकार का बना, वही घोड़े के आकार का बना, वही आग के आकार का बनता है, वही मकान बना और वही खून के आकार का भी बना। इतने सब परिणाम होते हुए भी पर्दे में कोई

विकार नहीं आया । पर्दा न हो तो कुछ भी नहीं दीखता, फिर भी पर्दा वैसे का वैसा ही बना रहा ।

'ऋते चिच्छक्तेः' से कहा गया कि यही उस अखण्ड शक्ति की अविकारिता है । सारे जगत् के परिणाम होते हुए भी उसमें कोई विकार नहीं । परमेश्वर ही भिन्न आकार लेता है, वही परमात्म-तत्व अनेक रूप धारण करता है । वह इन सारे रूपों को धारण करते हुए भी ठीक सिनेमा के पर्दे की तरह अपरिणत, अविकृत बना रहता है । उसके बिना ये जीव और जगत् कुछ भी सम्भव नहीं हैं ।

फिर परमेश्वर और जगत् में क्या फरक है ? निरुपाधिक रूप से जिसका ज्ञान होता है, विद्या रूपी उपाधि से उसी की उपासना होती है । विद्या उपाधि से जो उपास्य है वही अविद्या उपाधि से भोक्ता और भोग्य अर्थात् जीव और जगत् बनता है । माया उपाधि से परमेश्वर और जगत् दोनों बनते हैं । माया से कल्पित होने से ईश्वर और जगत् एक जैसे हैं, फिर भी दोनों एक जैसे नहीं लगते । माया में दो देश हैं । प्रथम विद्या का देश । विद्या-माया से उपास्य तत्व की कल्पना होती है । द्वितीय अविद्या का देश । अविद्या-माया से जगत् की कल्पना होती है । अविद्या-उपाधि वाला होने के कारण जगत् उपास्य नहीं बनता । इस अविद्या की उपासना से ही संसार चक्र बना रहता है । अविद्या की उपासना का वर्तमान रूप रुपये पैसे की उपासना है । उसके साथ ही साथ पत्नी और बच्चों की उपासना भी समझ लो । ये सब अविद्या की उपासना घोर अंधकार की तरफ ले जाती है, यद्यपि हैं ये भी परमात्म स्वरूप ही, पत्नी भी परमात्मा है और नोट भी परमात्मा है क्योंकि कहा गया है 'आत्मनोऽन्यत्तुपन्नास्ति सर्वमात्ममयं जगत् । ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्ममात्रमसन्नहि' (ते० ६) । इससे विपरीत जो कुछ है वह सब परमात्मा ही है ऐसी उपासना विद्या उपासना है ।

वेद के अन्दर एक बात पर बार-बार जोर दिया गया है वह है 'ब्रह्म मात्रमसन्नहि ।' वेद में ध्वनिचक्र की टूटी नड़ी की तरह सर्वत्र

यही तत्व मिलता है। जहां चूड़ी टूट जाती है वहां सुई के पहुंचने पर बार-बार वही एक स्वर निकलता रहता है। उसी प्रकार 'अयमात्मा ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्मैवेदं सर्वम्'। यही एक बात वेद में बार-बार दुहराई गई है। इस स्थल पर मानो वेद की चूड़ी टूट जाती है और बार-बार उद्घोष करती है कि श्रुति का चरम तात्पर्य है 'ब्रह्ममात्रमसन्नहि' ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। वह ब्रह्म ही एक मात्र अनेक रूप बन कर दीख रहा है। अतः जगत् भी ब्रह्म रूप ही है, किन्तु अविद्या उपाधि वाला होने से इस जगत् की उपासना का फल वही है जो अविद्या की उपासना का फल है। प्रविशन्ति (यजु० ४०) से श्रुति ने कहा कि अविद्या की उपासना करने वाले घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। परन्तु विद्या की उपासना से विद्या का फल मिलेगा 'विद्यया देवलोकः (बृ० उ० १/५)। विद्या की उपासना, परमेश्वर की उपासना, से आत्मज्ञान का साधन मिलेगा। उपासक को स्मरणीय है कि उपासना से यदि ब्रह्म लोक या देव लोक भी चले गये तो क्या हुआ? यदि मन की अनुभूति या वृत्ति वहां भी बनी रही तो श्रेष्ठता क्या हुई? वह अनुभव तो यहां भी कर रहे हो। वहां भी यदि मन की वृत्ति रागद्वेषात्मक बनी रही तो लाभ क्या हुआ? रागद्वेष की वृत्ति होने से ब्रह्म लोक में होने पर भी ब्रह्मलोक में नहीं हो। रागद्वेष का नाम ही तो जगत् है। विद्या की उपासना से राग-द्वेष हटते ही चले जायेंगे, विचार से अधिकाधिक आनन्द और अन्तःकरण शुद्ध बनता चला जायेगा। अविद्या से अधिक बन्धन, अधिक दुःख होता है।

इस प्रकार श्रुति ने 'एतद् ज्ञेयम्' से उसे ज्ञेय रूप बता कर 'नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्' से उपासना का रूप भी बता दिया कि इसकी उपासना के अतिरिक्त और कुछ भी उपास्य नहीं है। वही भोक्ता-भोग्य रूप जीव और जगत् बना और इन सबको मिलाने वाला प्रेरिता भी वही है। सारी साधना का मूल या हृदय यही श्रुति का 'प्रेरितारम्' शब्द है। साधना का मतलब हाथ में माला फेरना

ही नहीं होता। साधना के अनेक रूप हैं। कुछ लोग मानते हैं कि माला फेरना साधना का रूप है और कुछ अन्य लोग मन्दिर-दर्शन, कीर्तन, पखावज या खड़ताल बजाना, सत्संग-श्रवण को कुछ अन्य लोग कुछ किताबों को रट लेना, पाँच कोष कौन से होते हैं, षट्-कंचुक कौन-कौन से होते हैं, पंच महाभूत कैसे बनते हैं, इत्यादि को रट लेना ही साधना का रूप मानते हैं। इस प्रकार लोगों की साधना के बारे में भिन्न-भिन्न दृष्टि है। ये सब साधना नहीं ही है हम ऐसा नहीं कह रहे हैं। ये सब भी साधना के बाह्य रूप हैं। किन्तु इन सब साधनों के मूल में क्या है इसके समझने में गड़बड़ हो जाती है।

यदि विचार से देखा जाय तो ये सब साधनायें हो भी सकती हैं और नहीं भी। केवल दृष्टि भिन्न-भिन्न है। सत्संग में आने का मतलब क्या है? क्या आपने कभी इस पर विचार किया? लोग कहते हैं सत्सङ्ग में गये किन्तु आनन्द नहीं आया। उसमें हमें रस नहीं आता। यह कथन उपहासास्पद है। वस्तुतः ऐसे व्यक्ति ने सत्सङ्ग करना सीखा ही नहीं। यदि सत्संग कर रहे हो और आनन्द नहीं आता तो करने में गलती है।

सत्संग का असली अभिप्राय है वक्ता और श्रोता का सहयोग। दौड़े-दौड़े सत्सङ्ग के लिये आये और पहुंचे तब, जब शांति पाठ हो चुका या भाषण शुरू हो गया। शांति पाठ होते होते तो फूला हुआ दम ठिकाने आ रहा है। जब मंत्र आरम्भ हुआ तब बैठने का इन्तजाम हो रहा है। मंत्र में क्या कहा जा रहा है इस पर विचार नहीं किया। मूल मंत्र का क्या विचार है इस पर ध्यान जमा नहीं पर घड़ी की तरफ दृष्टि गई कि आज सत्संग कितने बजे शुरू हुआ। मन अभी सत्संग के लिये तय्यार हुआ ही नहीं है और सत्संग शुरू हो गया। मध्य में पहुंचे तो मेल मिला रहे हो कि कल क्या कहा था। समाप्ति के पांच मिनट पूर्व ही मन कुडर-कुडर करने लगा, किताब थैले में और माला गोमुखी में जाने लगी। शांति बोलते ही अशान्ति शुरू हो गई। जितनी चाहो धक्का मुक्की करलो, फिर तो चौबीस घंटे के बाद ही

अवसर मिलेगा । फिर कहते हैं, स्वामी जी, सत्संग में रस नहीं आया। सत्संग तो किया नहीं गया, कराया गया है जिसे अंग्रेजी में कहते हैं In spite of you and not because of you, आपकी वजह से नहीं वरन् आपके बावजूद । आपने सत्संग का रस नहीं लिया वह तो जबर्दस्ती गले पड़ गया ।

वास्तव में सत्सङ्ग का तरीका यह है कि उस समय पहुंचना चाहिये जब कार्य शुरू नहीं हुआ । सत्सङ्ग से दस मिनट पूर्व मन को सत्संग के लिये तैयार करो कि आज परमेश्वर की वाणी सुनेंगे । कल क्या कहा था इस पर विचार करो । साथ-साथ शांति मंत्र में क्या कहा जा रहा है इस पर भी विचार करो ।

"सह नौ अवतु" परमेश्वर हमारी रक्षा करे, "सह नौ भुनक्तु" और पालन करे, "सह वीर्यं करवावहै" वक्ता और श्रोता दोनों परिश्रम करें । इस प्रकार जो भी मंत्र आदि सुने जांय उनको अनुभव करते हुए चला जाय । दुनियां भर की बातों से क्या लाभ है, यह तो बातों की बदहज्मी है । जैसे आज पैसे के युग में पैसे की बदहजमी है वैसी ही यहां भी हो जाती है । लोगों को पता नहीं कि पैसे खर्च कैसे किये जाते हैं । पहले तो केवल वैश्य के पास ही धन होता था। आज क्षत्रिय, ब्राह्मण के पास भी धन हो गया जो यह जानते ही नहीं कि धन खर्च कैसे किया जाता है । अतः वह धन बाहर उछलता है । यह धन की बदहज्मी है । इसी प्रकार लोगों को बातों को जानने की बदहज्मी सी है । सत्संग में श्रवण की गई बातों को जीवन में लाये या नहीं, यह विचार ही नहीं है । प्रश्न हो सकता है कि वक्ता का भी तो कुछ प्रभाव होता है । यह तो पहले ही बता चुके हैं कि सत्संग में वक्ता और श्रोता दोनों का सहयोग आवश्यक है । तभी पूर्ण रस आयेगा । बोलने वाले के ढंग का भी श्रोता पर असर पड़ता है । इस कारण रस कम आया, यह तो हो सकता है; किन्तु रस ही नहीं आया, यह नहीं हो सकता ।

ऐसे ही सभी साधनाओं में समझ लेना चाहिये। माला फेरने का अर्थ केवल मनके फेरना नहीं है। यदि यही माला फेरने का अर्थ होता तो इस दृष्टि से तो बौद्धों ने बड़ा सरल तरीका निकाला है। एक बार हम तिब्वत गये थे तो वहाँ उसे देखा। वहां के लामा एक घिर्री बना लेते हैं और उस घिर्री पर ५-१० हजार मन्त्र लिखते हैं। उन्होंने बताया कि वे एक दिन में ५ करोड़ या सात करोड़ मन्त्र जप कर लेते हैं। हमको बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह कैसे सम्भव होता है। अगर मंत्र एकाक्षरी भी हो तो एक दिन में एक लाख जप तभी हो सकता है जब लगकर १८-२० घंटे बैठो। हमने सोचा कि शायद कोई विशेष यौगिक प्रक्रिया होगी। बाद में मालूम हुआ कि वे लोग काम करते वक्त भी उस घिर्री को वाम कर में घुमाते जाते हैं। एक घिर्री घुमाने के साथ ही १० हजार जप हो जाता है। तब तो इतना क्या इससे भी अधिक जप हो सकता है। हमारे यहाँ भी क्या कुछ कम हुआ ? हमने तो एक ही माला सटकाई, उन लोगों ने अपनी इस बुद्धिमत्ता से फिर भी कई मालायें तो सटका लीं। माला फेरते समय वृत्ति मन्त्र में है या नहीं इस पर विचार ही नहीं किया।

इसी प्रकार जब माला चढ़ानी है तो माली के ऊपर दो आना-फेंका और माला ले ली। उसमें पानी है या नहीं, इसकी कोई चिन्ता नहीं। यदि कहो तो कहते हैं कि जी, माली की गलती है। अरे, माला तुम चढ़ा रहे हो, या माली। पता तो तब लगे जब चवन्नी की रेजगी में कभी खरे और खोटे की भूल हो जाय। फूल चढ़ाने में क्या देखना ? फिर कहते हैं, स्वामी जी, २५ साल से पूजा कर रहा हूं, लाभ नहीं हुआ। लाभ कहां से हो ? यहां हम साधनों का निषेध नहीं कर रहे हैं। साधना से यदि पूरा लाभ नहीं लिया, जीवन-मुक्ति का आनन्द नहीं आया तो उस साधना से क्या लाभ ? जैसे व्यापार में दस लाख रुपये लगाकर यदि केवल दो सौ रुपयों का ही लाभ हुआ तो क्या लाभ हुआ ? अतः हमेशा ध्यान रखना चाहिये कि परमात्मा ही प्रेरक है। उसी की प्रेरणा से माला जप रहे हैं। उस आत्म तत्व

की ही ज्ञान शक्ति से हम अपनी वृत्ति बना रहे हैं। हमेशा प्रेरयिता का ख्याल होना चाहिये। इस शिव-तत्व को याद रखते हुए ही माला का फेरना सफल है।

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में प्रेरितारम् पर बड़ा सुन्दर विचार किया गया है। 'स ई महीम् धुनिमेतोररमणात् स उ अस्नात्तृनपारयत्स्वस्ति। त उत्स्नाय रयिमभि प्रतस्थुः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार।'

इस मन्त्र में श्रुति बतला रही है कि वह परमात्मा क्या करता है। उस परमात्मा से एक बड़ा भारी ध्वनि प्रवाह चला आ रहा है। जगत् नदी का प्रवाह गर्जन-तर्जन के साथ बह रहा है। प्रतिक्षण उससे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड निकलते चले जा रहे हैं। यह जगत् प्रतिक्षण बदलता चला जा रहा है। रात को जब आप नीरवता का अनुभव करते हो तब भी ध्वनि तो उस महान् गर्जन-तर्जन की निरन्तर हो रही है पर आपके कान नहीं सुन पाते। विषयों का कोलाहल सुनते-सुनते आपके कानों को खास प्रकार की ध्वनि सुनने की आदत पड़ गई है जिससे वे उस महान् ध्वनि को नहीं सुन पाते। किसी चीज को निरन्तर करते रहने से उसका अभ्यास हो जाता है। यदि किसी व्यक्ति को शांत वातावरण में रहने का अभ्यास हो और वह दिल्ली में आ जाये तो पहले पांच दस दिन रात में नींद नहीं आती। फिर जब वह गूंज और कोलाहल का अभ्यासी हो जाता है तो उसे सुन नहीं पाता। फिर तो वह उसकी आदत हो जाती है।

एक महात्मा से राजा ने अपने यहां भोजन करने का बड़ा आग्रह किया। महात्मा ने कहा राजन् तुम्हारे यहां बड़ी बदबू आती है। राजा को यह सुनकर बड़ी चोट पहुंची। फिर भी आग्रह करने पर महात्मा भोजन करने के लिये मान गये। राजा ने बढ़िया गलीचे बिछवा दिये और उत्तम सुगन्धि के भी सब साधन जुटा दिये। वहां बदबू का कोई नाम निशान भी नहीं था। महात्मा भोजन के लिये गये। भोजन करते वक्त महात्मा बीच-बीच में नाक बन्द करते जाते थे। राजा ने सोचा कि

महात्मा की नाक में कोई खराबी होगी। जुकाम या कोई घाव हो गया होगा। यहां तो बदबू का लेश भी नहीं है। बढ़िया सुगन्धि आ रही है। महात्मा भोजन करके चले गये। राजा महात्मा के पास बराबर जाते रहते थे। दस दिन बाद वे दोनों साथ-साथ घूमने निकले। एक जगह महात्मा मोड़ लेने लगे तो राजा ने कहा महात्मन् यह गली तो बहुत गंदी है। महात्मा ने कहा, अरे कोई गंदी नहीं है। महात्मा के आग्रह पर राजा चले तो गये पर वहां चर्मकार लोग चमड़ा उबाल रहे थे। राजा ने जोर से नाक बन्द की और कहा कि यहां तो बड़ी बदबू आ रही है, मेरा तो सिर फटा जा रहा है। महात्मा ने कहा कि यहां तो कोई बदबू नहीं है। उन्होंने दो चार चमारों से भी पूछा 'क्यों भई यहां कोई बदबू है' ? तो उन सभी ने कहा कि यहां तो कोई बदबू नहीं है। राजा ने कहा 'महात्मन्, इन चमारों को बदबू क्या आयेगी ?' महात्मा ने कहा 'क्यों, ये भी तो आदमी है'। राजा ने कहा, इन्हें तो इस बदबू का अभ्यास हो गया है। महात्मा ने कहा कि ऐसे ही निरन्तर विषय भोगों में लिप्त रहने से तुम्हें भी उनका अभ्यास हो गया है। मैं कभी-कभी जब तुम्हारे वहां जाता हूं तो मुझसे वह सब सहन नहीं होता !

यहां श्रुति कह रही है स ई महीम् धुंनिमेतोररम्णात्। हम अक्सर कहा करते हैं कि श्रुति काव्यमयी है। श्रुति को समझने के लिये भी कवि का हृदय होना चाहिये। ऊपर कही गई बदबू वाली कथा को समझने के लिये कवित्व शक्ति की आवश्यकता नहीं है। पर श्रुति के वास्तविक तात्पर्य को समझने के लिये कवि-हृदय होना अनिवार्य है। कविता की दृष्टि से श्रुति ने कहा 'महीम् धुनि' संसार प्रवाह की ध्वनि निरन्तर होते रहने के कारण तुम उसे सुन नहीं पाते। कभी-कभी ऐसी जगह भी पहुंच जाते हो जहां परमात्मा इन अरमणीय ध्वनियों को रोक लेता है। वहां हमारी समझ में परमात्म तत्व आने लगता है और हमें पता लगता है कि उससे अधिक सुन्दर कुछ है ही नहीं। इस प्रकार जब हम चित् शक्ति में पहुंचे तो पता चला 'स उ अस्नातृन्

अपारयत् स्वस्ति'। संसार में स्वस्ति नाम की कोई चीज नहीं, कल्याण करने वाला कोई पदार्थ नहीं है। स्वस्ति का मतलब है सु अस्ति, जो अच्छा या सुन्दर है। यदि संसार को हाथ लगाओ तो याद रखना कि यहां कोई भी चीज सुन्दर नहीं है। गीता में भगवान् कृष्ण भी संसार का यही रूप बता रहे हैं अनित्यम् असुखम् लोकम् (गी० ९/३३)। लोक में नित्यता या सुख नहीं है। इसका अर्थ ऐसा मत समझ लेना कि संसार की किसी चीज में दुःख है, बल्कि संसार स्वयं दुःख रूप ही है। दुःख केवल इस बात का है कि हम यहां सुख ढूंढ़ते हैं। हमें मिलता है दुःख। ज्ञानी या विचारशील के लिये संसार बदलता नहीं है। संसार वही रहता है तो बदलता क्या है? ज्ञानी समझता है कि यह संसार दुःख रूप है और सदा दुःख ही देगा। अविवेकी इसे सुख रूप समझ कर दुःखी होता है। कोयला बुरा नहीं होता। कोयले को हाथ लगाने वाला जानता है कि यदि कोयले में हाथ लगेगा तो हाथ काला होगा। यह तो कोयले का स्वभाव है। कोयला बुरा नहीं। भाष्यकारों ने अन्यत्र कहा है कि ज्ञानी तो जानता है कि संसार दुःख रूप ही है अतः 'असुखम् लोकम्' में सुख ढूंढ़ने का वह प्रयास ही नहीं करता। उसे संसार से सुख की चाहना ही नहीं है। यहां विषयों को ही लोक कहा गया है। गीता में भगवान् ने और भी कह दिया कि संसार 'दुःखालयम् अशाश्वतम्' (८-१५) है। अतः संसार में 'सु' नाम की कोई चीज 'अस्ति' नहीं है। इसीलिये संसार के पदार्थों से कभी दुःखी नहीं होना चाहिये।

जो संसार में तैरना नहीं जानते वे पार कैसे होंगे? जिन्हें स्नान भी करना नहीं आता, ऐसे लोग भी नदी के किनारे बैठकर दो लोटा पानी उंडेल लेते हैं। पर जब तक नदी में तैर कर पार नहीं गये तो वह भी कोई स्नान है? दो लोटे पानी तो घर पर भी अपने ऊपर डाले जा सकते थे। यदि नदी के पानी में कमर तक जाकर डुबकी लगा लो तो भी स्नान की पूर्णता नहीं है।

यह तो घर में हौज बनाकर भी कर सकते हैं। जब नदी को तैर कर पार कर लिया जाय **तभी** वह स्नान कहलाता है।

'अस्नातृन्' से श्रुति कह रही है जिन्हें स्नान करना ही नहीं है, वे संसार समुद्र को तैर कर पार नहीं करते। उनमें सामर्थ्य ही नहीं है कि उसको तैर कर विजय कर लें, इसीलिये तो परमात्मा को पकड़ा है। यदि प्रेरयिता को मान कर चलो तो वह हाथ पकड़कर पार कर देता है, यही है उसकी प्रेरणा। इसे 'अस्नातृन् अपारयत्' से श्रुति ने बताया। वह संसार समुद्र में धक्का नहीं देता। लोग कहते हैं कि भगवान् परीक्षा ले रहे हैं, लोभ में डाल रहे हैं। भगवान् परीक्षा नहीं लेते, कभी कष्ट नहीं देते। क्या लौकिक व्यवहार में मां भी ऐसा करती है कि जरा बच्चे को धक्का देकर देखे कि इसको चोट लगती है या नहीं, इसके सिर में चोट लगने से गूमड़ी निकलती है या नहीं। जब लौकिक मां भी ऐसा नहीं करती तो क्या यह हो सकता है कि परमात्मा कभी धक्का देगा ? श्रुति कहती है कि परमात्मा तो स्वयं हाथ पकड़ कर पार लगा देते हैं। 'स उ अस्नातृन् अपारयत्'। केवल उसकी प्रेरणा को मानकर चलना है।

दक्षिण भारत में सुन्दर मूर्ति नाम के एक शैवाचार्य हुए हैं। वे जन्म से ही बड़े सुन्दर थे। इस सुन्दरता पर प्रसन्न होकर बड़े होने पर राजा ने उन्हें अपने साथ रखकर मन्त्री बना लिया। राजाओं को कभी-कभी ऐसा शौक होता है। जोधपुर के महाराजा प्रतापसिंह भी २०-३० सुन्दर व्यक्तियों को सदैव अपने महल में साथ रखते थे। किसी ने पूछा आप ऐसा क्यों करते हैं तो उन्होंने बतलाया कि सारा दिन काम की व्यस्तताओं से जी ऊब जाता है। किसी की नाक चढ़ी है तो किसी का मुंह टेढ़ा है। कम से कम इनके दर्शन करने से आंखों को शांति मिलती है। कविकुलगुरु कालिदास ने भी लिखा है कि शकुंतला को देखने पर दुष्यन्त कहता है कि आज मेरी आंखों को निर्वाण मिला 'अहो लब्धम् एवं चक्षुनिर्वाणम्।' बड़े होने पर करीब २०-२२ साल की आयु में सुन्दर मूर्ति की शादी एक सुन्दर कन्या से तय हो गई।

बारात पहुंची, प्रारम्भिक कार्य हुए और ज्योंही सप्तपदी प्रारम्भ होने को थी तो वहां बोला गया। 'वर कन्या सावधान, एक बिस्वा सावधान, दो बिस्वा सावधान,' आदि। उस समय 'सावधान' शब्द बोलने के साथ ही एक बुड्ढा ब्राह्मण वहां आया और बोला, यहां सुन्दर मूर्ति नाम का कौन व्यक्ति है। लोगों के पूछने पर उसने बताया कि वह मुझे बिका हुआ है अत: मेरा दास है। कहने लगा कि चल, मेरे साथ चल। ब्राह्मण सुन्दर वेद पाठी था और शुद्ध संस्कृत में बोल रहा था। उसने कहा आपने 'सावधान' कहा इसीलिये मैं आ गया। बुड्ढे ने सुन्दर मूर्ति की तरफ इशारा करके कहा कि इसको इसके बापने मेरे हाथ बेचा है। यह मेरा गुलाम है और यहां भाग आया है। अत: मैं इसे लेने आया हूं। सब लोग हंस पड़े। उन्हें आश्चर्य हुआ। कहने लगे यह असम्भव है। ब्राह्मण कभी अपने पुत्र को नहीं बेचता। कहीं भी ऐसा देखने में नहीं आता। केवल वेद में एक कथा मिलती है कि शुन:शेप को उसके पिता ने विश्वामित्र के हाथ बेच दिया था। ब्राह्मण ने उसी कथा को प्रमाण रख कर कहा कि इसके पिता ने भी लड़के को मेरे हाथ बेचा है। लोगों ने अन्य प्रमाण मांगा तो बुड्ढे ने कहा इसके लिये मेरे पास यह दस्तावेज है। ब्राह्मण ने एक कागज निकाला। सुन्दर को बड़ा क्रोध आया। उसने झट उस कागज को छीन कर टुकड़े-टुकड़े करके आग में फेंक दिया। ब्राह्मण ने कहा यह तो ठीक है कि मैं अधिक ताकतवर नहीं हूं, पर यह गलत बात है कि किसी का दस्तावेज इस तरह जला दिया जाय। राजा न्याय करें। राजा ने भी सुन्दर को डांटा और आज्ञा दी कि टुकड़ों को निकालकर ही वांचा जाय, शायद कुछ अन्दाज लग सके। इस पर सुन्दर मूर्ति ने कहा कि राजन्, आप किस की बातों में आ गये—यह तो 'पुनीम' है। पुनीम का अर्थ तामिल में पागल होता है। वास्तव में उस ब्राह्मण का नाम भी पुनीम था। झट उसने राजा से कहा, देखिये महाराज यह लड़का मेरा नाम भी जानता है। मेरा नाम पुनीम है। उसने आगे कहा कोई बात नहीं, वह कागज जो फट गया

असली कागज की नकल ही था, असली तो अभी मेरे पास सुरक्षित है। यह कहकर उसने एक कागज खोलकर दिखाया जिसमें लिखा हुआ था कि सुन्दर मूर्ति को पुनीम ब्राह्मण के हाथ बेचा गया। अब वह ब्राह्मण राजाज्ञा से सुन्दर मूर्ति को लेकर चल दिया और एक मन्दिर में उसे ले गया। मन्दिर के गर्भ गृह में प्रवेश करके ब्राह्मण तो शिवलिंग में प्रवेश कर गया और आकाशवाणी हुई कि हे सुन्दर मूर्ति, तू पूर्व जन्म में कैलाश लोक में शिव चरणों में रहता था। वहां एक दिन पार्वती जी की सेवा में लगी हुई सुन्दर स्त्री पर तेरी खराब दृष्टि चली गई। वहां तो सत्य संकल्पता है। अतः पार्वती जी ने आज्ञा दी कि तुम दोनों नीचे जाओ। उस समय तुमने परम पिता शंकर से कहा कि मैं वापस नहीं आ सकता—अस्नाता पार नहीं हो सकता। इस समय मैंने सोचा कि यदि तेरा विवाह हो गया तो तू फंस जायेगा और फिर वापस नहीं आ सकेगा। अतः मुझे पुनीम बनकर आना पड़ा। पुनीम भी मैं ही हूं। श्रुति भी यही कह रही है कि वही सब कुछ है। इसके बाद सुन्दर मूर्ति तब तक शिव भक्ति में लगा रहा जब तक प्रारब्ध शेष था। वह और उसकी पत्नी दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में धर्म-प्रचार करते रहे। आज तक चार प्रमुख शैवाचार्यों में दक्षिण के आचार्य सुन्दर मूर्ति की गिनती है।

अतः हमें उस परमात्मा को ऐसा प्रेरक बनाना है। उसे प्रेरयिता मानकर चलने से वह हमें स्वयं पार लगायेगा। प्रेरक एकमात्र उस परमेश्वर को ही बनना है। मैं यदि हाथ भी उठाता हूं तो तेरी शक्ति से, मेरी कुछ सामर्थ्य नहीं। प्रेरयिता की शक्ति को समझ कर चलने से ही सारी साधना सफल होगी। साधना का घनीभूत तात्पर्य इसी में है कि इस प्रकार प्रेरयिता की भावना की अभिवृद्धि करते चलें। इस अभिवृद्धि से ही साधनाओं की सफलता है।

(६)

परमात्मा सभी कार्यों के प्रति प्रेरक है। अब थोड़ा विचार इस पर करेंगें कि वह प्रेरणा किस प्रकार से करता है। श्रुति हमें बता रही

है कि यदि वह अन्तर्यामी रूप से प्रेरक है तो बहिर्यामी भी है। यद्यपि उसने ही बाहर के पदार्थों का स्वरूप ग्रहण किया है, स्वतः वह बाह्य पदार्थ बना है, इसीलिये स्वकीय दृष्टि से वह अन्तर्यामी ही है, तथापि हमारी दृष्टि से वह हमें बहिर्यामी प्रतीत हो रहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भाष्यकार लिखते हैं कि कहीं भी उसकी आत्म दृष्टि का उच्छेद नहीं होता। वह पृथिवी का शासन करता है इसलिये हमें बहिर्यामी लगता है। पृथिवी बाहर की चीज है। वह उसका शासक है। अतः हमें लगता है कि वह पृथिवी का शासन करता है। यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम् (बृ० उ० ७/३) जो पृथिवी के अन्दर है का अर्थ है कि पृथिवी उसीका शरीर है, लेकिन पृथिवी उसे नहीं जानती। ठीक जिस प्रकार हमारे शरीर में रहने वाले और उस शरीर का नियन्त्रण करने वाले तत्व को हमारा शरीर नहीं जानता, यद्यपि वह आत्म तत्व शरीर के अन्दर मौजूद है। शरीर ही आत्मा का बाह्य रूप है। पंच भूतों में भी वही आत्म तत्व रहता है। किन्तु बाहर का शरीर उसे नहीं जान रहा है। अतः जो इस प्रकार शासन कर रहा है वह पृथिवी की दृष्टि से अन्तर्यामी है। हम बाहर से चाहे यह कहें कि वह पृथिवी का शासक है। वह परमेश्वर प्रेरणा कैसे करता है? उसकी प्रेरणा का तरीका क्या है यह हम पहले बता चुके हैं। अब इस पर विचार करेंगे कि सबका प्रेरक स्वरूप परब्रह्म परमात्म तत्व किसलिये, किस उद्देश्य से प्रेरणा करता है।

नैयायिकों का यह नियम है कि प्रयोजन के बिना किसी की प्रवृत्ति नहीं होती। 'प्रयोजनम् अनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' मन्द से मन्द बुद्धि वाला मूर्ख भी किसी उद्देश्य को सामने रखे बिना प्रवृत्ति नहीं कर सकता। फिर यह कैसे हो सकता है कि परमेश्वर बिना प्रयोजन के इतनी बड़ी सृष्टि बनाये। परमेश्वर प्रेरक और प्रयोजक दोनों है। यदि वह प्रेरक है तो प्रयोजन भी होना चाहिये। तो प्रश्न यह है कि परमेश्वर ने ब्रह्माण्ड क्यों बनाया?

यदि विश्व पर दृष्टि डालते हैं तो देखने में आता है कि प्रत्येक अणु का एक क्रमिक विकास होता है। भौतिक दृष्टि से आजकल के वैज्ञानिकों की मान्यता है कि मूलभूत तत्व अणु—एक ऋणाणु और एक धनाणु—अपने योगों को बढ़ाते हुए आगे बढ़ता चला जाता है। आज से सौ साल पूर्व वैज्ञानिकों की मान्यता थी कि पदार्थ अलग अलग हैं। आज का वैज्ञानिक एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ में परिणत कर लेता है। किन्तु उन पदार्थों में क्रमिक विकास भी दृष्टिगत होता है। वे ऋणाणु और धनाणु जब क्रम से बढ़ते जाते हैं तो वे अलग अलग पदार्थों में परिणत होते जाते हैं। क्रमिक विकास की यह भूमिका है। महाकाल परम शिव में यह भूमिका कल्पना रूप से विद्यमान है। इसी प्रकार जीवों में भी क्रमिक विकास और विचारों में भी क्रमिक विकास होता रहता है। सर्वत्र यही दृष्टिगत होता है कि परमेश्वर का प्रयोजन जीव की सर्वतोमुखी प्रतिभा का विकास ही है। प्रत्येक अणु, जीवित या चेतन, छोटी से छोटी सत्ता वाला भी पूर्णता को, पूर्ण आनन्द को, प्राप्त कर जाय। भारतेतर वैज्ञानिकों ने क्रमिक विकास के इस वास्तविक उद्देश्य को नहीं समझा है। यद्यपि जर्मन दार्शनिक हेगल ने इस दिशा में कुछ प्रयास भी किया किन्तु इस विचार की पूर्णता वेदों में ही मिलती है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं 'विज्ञानमानन्दम् ब्रह्म' (बृ० उ० ६)। यहां तक तो विकास है पर यहां पहुंचने पर पूर्णता प्राप्त हो जाती है।

अब प्रश्न उठता है कि वह प्रेरणा कैसे करता है। काल रूपी पर्दे के ऊपर मानो महाकाल की छाया पड़ रही है। परम शिव के अन्दर जो कल्पना रूप से विद्यमान है उसे काल रूप में परिणत करने पर वही जीव का रूप धारण करता है। जैसे एक चित्रकार जब चित्र बनाना शुरू करता है तो उसके मस्तिष्क में सारा चित्र पहले ही विद्यमान रहता है। सारा चित्र युगपत् उसकी कल्पना में तो है, किन्तु किसी पर्दे पर खींचने के लिये उसका एक क्रम होता है। वह पहले रेखा खींचता है, फिर खाका बनाता है, फिर उसमें रंग आदि भरा जाता

है। अन्त में वह पूर्ण होता है। इस प्रकार पर्दे पर उसके मानस चित्र का प्रतिबिम्ब डालने का प्रयत्न क्रमिक विकास है। जो चित्र परमेश्वर या महाकाल के अन्दर पूर्ण रूप से विद्यमान है उसमें क्रमिकता नहीं है। जीव का पूर्ण रूप तो पहले ही विद्यमान है, किन्तु काल रूपी कपड़े पर उसका चित्र बनाने में क्रमबद्धता प्रतीत होती है। पहले केवल सत् ही सत् लगता है। आगे उसका क्रमिक विकास होता है। जो महाकाल में विकास रूप वाला नहीं है वही काल में विकास को धारण करता है। हम काल की दृष्टि से देखते हैं अतः हमको विकास प्रतीत होता है। ब्रह्म दृष्टि से सब सहज स्वाभाविक रूप से ही स्पष्ट होता है।

भगवान् गौड़पादाचार्य लिखते हैं 'देवस्यैषस्वभावोयमाप्तकामस्य का स्पृहा' (मा० का० १-९)। गौड़पादाचार्य ने इसे स्वाभाविक ही कहा है। काल की दृष्टि से ही विकास है, वास्तविक श्रौत दृष्टि में तो स्वभाव ही है। दूसरे दृष्टान्त से भी समझ लीजिये। अपने घर की ही बात ले लीजिये। आपके घर मेहमान आने वाले हैं। सारे भोजन की रूप रेखा युगपत्, एक साथ ही, विद्यमान है। खीर, पूरी, साग—और साग भी कई प्रकार का, खिलाना है। इसको प्रकट करते समय एक क्रम होता है। साग छीला जा रहा है, फिर काटा जा रहा है, किन्तु मन में सारा भोजन एक साथ मौजूद है। क्या बनाना है यदि यह पता नहीं तो मामला गड़बड़ है। जब खाना बनाया जा रहा है तो सामने बैठा हुआ व्यक्ति तो उस क्रम को देख रहा है, पर यह क्रम देखने वाले की ही दृष्टि में है, बनाने वाली की दृष्टि में तो प्रारम्भ में ही सब मौजूद है, पूर्णरूप से स्पष्ट है, स्वाभाविक ही है। महाकाल में प्रत्येक जीव की पूर्णता विद्यमान है, काल की दृष्टि से क्रमिक विकास है। हम काल की दृष्टि से क्रमिक विकास को ही देखते हैं। अतः काल की दृष्टि से प्रयोजन है, महाकाल की दृष्टि से प्रयोजन नहीं है। इस क्रमिक विकास की धारा को समझना जरूरी है।

जीव क्या है? इसको समझने के लिये श्रुति में बड़ा सुन्दर

दृष्टान्त दिया गया है। 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति' (बृ० २.१.२०) 'यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः' (मुं० २.१) जीवात्मा का परमात्मा से उत्पन्न होना ऐसा ही है जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी का निकलना। यहां श्रुति वाक्य पर ध्यान देने की आवश्यकता है। श्रुति की व्याख्या भिन्न भिन्न प्रकार से की गई है, पर स्वयं श्रुति कानून की तरह अखण्डय है। अग्नि और चिनगारी के दृष्टान्त से परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध समझो। परमात्म तत्त्व में से सारे आत्मा बाहर निकलते हैं। यदि अग्नि में प्रकाश व दाह करने की सामर्थ्य है तो चिनगारी में भी जलाने की सामर्थ्य है। वह परमात्म तत्त्व आनन्दघन व परम स्वतंत्र है तो जीव भी आनन्दमय एवं स्वतन्त्र है। सीधे समझ लीजिये कि बाप की जात का ही बेटा होता है।

इस श्रुति वाक्य के हृदय को देखो तभी ज्ञात होगा कि वह क्या कह रहा है। सारी चिनगारियां अग्नि केन्द्र से ही निकलती हैं। उनकी अलग सत्ता नहीं है। वास्तव में चिनगारी क्या है ? जब अग्नि स्वतः अपने में सारी उष्णता को नहीं रख सकती तो वह स्फुटित होती है और चिनगारियों के रूप में वह स्फुटन प्रतीत होता है। अब देखो उस परमात्म तत्व में क्या हो रहा है। उस स्वतंत्र विज्ञान-आनन्दघन में आनन्द का फूल जाना ही उसका स्फुरण है।

इस प्रकार के दृष्टान्त भी सुनने को मिलते हैं कि वह तप से फूल गया। बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है कि वह खुशी से फूल गया। हिन्दी में भी यह प्रयोग चलने लगा है कि पैसा हुआ तो खुशी से फूल गये। इसी प्रकार तप से ब्रह्म भी फूल गया। वह आनन्द को अपने में समा नहीं सका। तप माने विचार। ऐसे ही वह आदि बिन्दु (परब्रह्म) भी आनन्द से फूल गया। गणित शास्त्र में बिन्दु का लक्षण दिया गया है कि जिसकी सत्ता तो हो पर लम्बाई चौड़ाई व उंचाई न हो। वह निराकार होता है। बिन्दु से ही रेखा, वृत्त, आदि बन जाते हैं। जिस आदि बिन्दु में सर्वतोभावेन निराकारता है,

वही भिन्न भिन्न आकार धारण करता चला जा रहा है। उसी आनन्दघन का स्पन्दन भिन्न भिन्न दिशाओं में भिन्न भिन्न काल में विस्फुलिंग के समान हो रहा है। इसी स्पन्दन का नाम जीव है।

ब्रह्म जीव नहीं बनता। यह स्मरणीय है कि यदि वह जीव बन जायेगा तो फिर उसका ब्रह्म बनना कठिन हो जायेगा। इस विषय में अनेक वादी हैं। उनमें से बहुतों ने माना कि ब्रह्म से जीव पैदा हुआ। पैदा हुआ माने बन गया। वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म जीव बनता नहीं। वह ब्रह्म रहते हुए ही जीव की तरह प्रतीत होता है। स्पन्दन भेद के कारण इतने जीव-रूप बन गया। भेद ज्ञान और क्रिया-शक्ति का तारतम्य ही है स्वरूप नहीं। देखने वाला देखते समय आंख नहीं बनता है, देखने वाली आंख तो जड़ है। जब तुम आंख में आये तभी आंख ने देखा। देखते हुए भी तुम आंख नहीं बनते। कान, हाथ, नाक आदि सभी ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञाता की सत्ता वैसी की वैसी बनी रहती है। वह सत्ता कान में जाने पर श्रोता बन गई और हाथ में जाने पर दाता बन गई, ऐसा नहीं होता; बल्कि बिना कुछ बने ही हम इतने रूप धारण करते हैं।

इसी प्रकार आनन्दघन ब्रह्म भिन्न भिन्न प्रकार से स्पन्दित होते हुए भी अपनी सत्ता को अखण्ड ही बनाये रखता है। बिना कुछ बने ही सारी प्रतीतियां हो रही हैं। उस ब्रह्म रूपी अग्नि ने भी यदि अनेक रूप अपने ही स्पन्दन से धारण किये तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? यहां ज्ञान-क्रिया का तारतम्य है, आदि स्पन्द बढ़ता चला गया, इतने मात्र से अनेक जीवों की कल्पना है। जिस केन्द्र में जिस उद्देश्य से स्पन्दन हुआ है, वह जहां से बढ़ा है जब वह वहीं लीन हो जायेगा तो पूर्ण शान्ति को प्राप्त होगा। वहीं उसकी पूर्णता है।

इसको समझने के लिये एक मोटा दृष्टान्त लीजिये। मान लीजिये कि एक चित्रकार ने एक अखण्ड चित्र की कल्पना मन में की। फिर क्रम से उसे पट्ट पर पूरा किया। यहां उसकी सारी क्रिया शक्ति समाप्त हो गई। अब तूलिका को फेंक कर आराम से बैठा हुआ उस चित्र को देख

रहा है। अब जब वह उस चित्र को देखता है तो वह अपनी ही कल्पना को विषय रूप से देख रहा है।

इसी प्रकार काल की पूर्णता हो जाने पर पूर्णता का अनुभव महाकाल स्वतः करता है। उस समय वह परमानन्द में मग्न है। परम आनन्द के सिवाय उसके हृदय में कुछ नहीं है। परम स्वातंत्र्य का अनुभव ही उसकी पूर्णता है। उसमें यदि कमी रह जाय तो फिर वही क्रम चलेगा। फिर चित्रकार की तरह दूसरा पट्ट खरीदो, फिर तूलिका चलाओ और जब तक अपने अनुरूप चित्र नहीं बने तब तक बनाते चले जाओ। जब अपने अनुकूल चित्र बन गया तो परम आनन्द रूप पूर्णता की प्राप्ति हो जायेगी। निष्क्रियता में परम आनन्द का अनुभव ही पूर्णता है।

साधारण आदमी इसी प्रवाह को जन्म-मरण का चक्कर कहते हैं। वेदान्ती इसे चक्र नहीं मानता। हम तो ब्रह्म हैं। हमें चक्कर में डालने वाला हो कौन सकता है? यदि हमें वस्तुतः कमजोर बनाया तो ब्रह्म मर जायेगा। अतः भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं। ब्रह्मार्थो दुर्लभो यस्मात् द्वितीये सति वस्तुनि (वार्तिक) यदि हम में थोड़ी भी कमी आगई तो ब्रह्म शब्द का अर्थ ही नहीं बनेगा। कमजोरी तो आ ही नहीं सकती, क्यों कि ब्रह्म का अर्थ है सर्व व्यापक, जो सर्व देशकाल वस्तु में बना रहता है।

अन्य द्वैतवादी कहते हैं कि जीव को बड़ा मत बनाओ, जीव को परमात्मा से अलग मानो, उसे बन्धन में पड़ा हुआ मानो। यदि जीव को ही बड़ा बना दिया तो जिस परमात्मा को बड़ा बनाने गये थे उस परमेश्वर का क्या हाल होगा? वह हमसे ज्यादा ताकत वाला नहीं बन पायेगा। तब तो वह विशेषण वाला नहीं रहा, वह सर्वव्यापक नहीं रहा, वह ईश्वर ही नहीं रहा। इसके लिये एक उक्ति भी है—'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्।' एक व्यक्ति चित्र बनाना जानता तो नहीं था पर चित्र बनाने चला गणेश जी का। अतः गणेश की मूर्ति की जगह बन्दर की मूर्ति बना दी। यदि जीव को ही ईश्वर बना दिया तो हमें जन्म मरण में कौन

डालेगा ? जरा विचार कीजिये कि यह जन्म मरण का चक्कर क्या है ? जो मरा है वह दूसरा जन्म लेगा और यदि जन्म लिया है तो मर कर ही आया है। फिर किसी के जन्म लेने पर लोग प्रसन्नता और मरने पर दुखी क्यों होते हैं ? अतः नर एवं नारायण को भिन्न ही स्वीकारना चाहिये। पर वेदान्त कहता है कि द्वितीय पदार्थ तो है ही नहीं। केवल उस आदि बिन्दु के स्वातंत्र्य की पूर्णता है। इसीलिये जीव मरता ही नहीं, उसी पूर्णता के लिये उसने फिर शरीर धारण किया है। जब तक वह पूर्णता प्राप्त नहीं होगी यह प्रवाह चलता रहेगा जिस दिन पूर्णता की प्राप्ति हो जायेगी फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहेगा 'तस्य कार्यं न विद्यते' (गी०) । जीव व परब्रह्म परमात्मा के सम्बन्ध में पूर्णता है। जन्म-मरण तो केवल मात्र अपूर्णता है एवं यह जीव की दृष्टि से ही है। जहां से आदि स्पन्द चला है जब तक जीव उसमें लीन नहीं होगा तब तक अपूर्णता ही है। उस आदिभाव में तो समष्टि की कल्पना है। जिस भाव की पूर्णता जिसमें है उसे हमारे शास्त्रों में उसका देवता कहा गया है। समष्टि रूप से जिस पूर्णता की कल्पना परमेश्वर में है उसी पूर्णता का प्राकट्य देवता में है। एक मोटी बात से इसे समझ लीजिये। लोग कहते हैं कि एक ही इष्टदेव होता है। इष्टदेव एक परमेश्वर है। फिर अनेक इष्ट और अनेक मंत्र क्यों हैं ? जो आदि बिन्दु, स्पन्द केन्द्र, का उद्देश्य है उसी की प्राप्ति करनी है। इष्ट का अर्थ है जो अच्छा लगे। विचार कीजिये कि इस 'अच्छा लगे' के पेट में क्या छिपा हुआ है। जिस भाव की अपूर्णता जीवन में आ रही है उसी की पूर्णता की प्राप्ति के लिये प्रयास करना है। यही इष्ट है। अपूर्णता की निवृत्ति का देवता रुद्र है अतः रुद्र स्पन्द को प्राप्त करते हुए ही हमारे इस उद्देश्य की प्राप्ति हो सकेगी। यदि हम रुद्र रूप को प्राप्त नहीं करेंगे तो रुद्रोहम्, शिवोहम् नहीं बन पायेंगे। इसी इष्ट की प्राप्ति होने पर हमारी पूर्णता है। एतदर्थ हमें परमेश्वर को ही प्रेरक मान कर चलना है। उसी को सामने रखकर सारी भावना करनी है। फिर कुछ करना शेष नहीं रहता, आगे कोई प्रयोजन नहीं।

साधारणतया हमारे मन में अपने जीवन की कोई कल्पना होती है। जब इससे आगे बढ़ते हैं तो देखते हैं कि हमारे बच्चों तथा पत्नी के मन में भी हमारी कोई कल्पना है। प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति यह प्रयास करता है कि उसके मन में उसके जीवन की जो कल्पना है वह पूर्ण हो जाय यानी वह चाहता है कि अपने भाव के अनुसार मैं पूर्ण बनूं। जो बुद्धिमान नहीं भी है वह सोचता है कि मेरे जो नौकर चाकर हों, पत्नी और बच्चे हों, वे मेरे अनुकूल बनें। वास्तव में इस भावना को लेकर वह और भी दुःखी होगा क्योंकि वेद के आधार पर ऐसा चाहना कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं है। पर मान्यता सभी की यह है कि मेरा भाव पूर्ण हो। यहां पर हम जिस बात पर जोर देना चाहते हैं वह यह है कि मेरा भाव मुझ में पूर्ण न हो पर परमेश्वर का भाव पूर्ण हो, ऐसा चाहना ही वास्तविक बुद्धिमत्ता है। परमेश्वर मुझसे क्या चाहता है? वह जो कुछ चाहता है उसका भाव मुझ में पूर्ण हो, मेरा भाव नहीं। वैदिक मत की आधार शिला यही है कि मेरी कोई इच्छा पूर्ण न हो। परमेश्वर का ही संकल्प पूर्ण हो।

हमारे वेदों में अनेक मंत्र हैं। कहा गया है कि सूक्त का अभ्यास करो, और यदि न कर सको तो गायत्री का जप ही करो। सारे वैदिक मंत्रों में गायत्री-मंत्र को ही क्यों चुना गया? इसलिये कि यही मंत्र वैदिक धर्म का आधार बताता है। उसमें परमेश्वर से हम कह रहे हैं कि परमेश्वर ही हमारी बुद्धि को प्रेरणा करे,-हम नहीं। प्रत्येक धर्म के कुछ सिद्धान्त होते हैं। हमारे सनातन वैदिक धर्म का आधार केवल गायत्री ही है।

"धियो यो नः प्रचोदयात्" अर्थात् परमेश्वर की कल्पना मुझ में पूर्ण होवे। ऐसा मानने वाला ही वैदिक धर्म का मानने वाला है। जो परमेश्वर की बुद्धि से ही सब कार्य करे वही वैदिक है, सनातनी है। अतः हमको उस परमात्मा की प्रेरयिता को स्वीकार करना है।

परमेश्वर किसे प्रेरणा करता है ? वेद का यह नियम है कि प्रेरणा भगवान्.करता है—परन्तु किस की ? इसे ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में बताया गया है। चोदयित्री सूनृतानाम् चेतन्ती सुमतीनाम् यज्ञम् दधे सरस्वती। जहां बुद्धि की अधिष्ठात्री सरस्वती का वर्णन किया गया वहां वेद-भारती ने कह दिया कि परमेश्वर सब को प्रेरणा नहीं देता। जो सत्य-निष्ठा वाला है उसी को प्रेरणा देता है। जिसकी सत्य-निष्ठा पूर्ण नहीं उसकी आवाज में परमेश्वर की आवाज नहीं निकलेगी। जो केवल सच बोले, सत्य-निष्ठा का परित्याग करे ही नहीं, उसी की आवाज परमेश्वर की आवाज होगी।

भगवान् शंकर ने दया कर के एक बात कह दी कि मोक्ष के लिये संन्यास जरूरी क्यों है। 'ब्रह्मसंस्थोमृतत्वमेति' (छा० २'२२)। श्रुति ने क्यों कहा कि ब्रह्म स्थिति के लिये संन्यास जरूरी है ? 'अपूताहि ते' (छा० ५'१०) गृहस्थी कितना ही विचारक हो जाये, गृहस्थाश्रम में रहने वाला कुछ न कुछ राग-द्वेष कर ही लेगा। चाहे वह आटे में नमक के बराबर ही क्यों न हो, अपवित्रता तो रहेगी ही। यदि साधक में कुछ भी राग द्वेप रह गया तो सुनृत नहीं बन पायेगा। क्या कारण है कि लोग संन्यासी के पास कल्याण का मार्ग पूछने जाते हैं ? उनके अन्दर भी तो वही तत्व है जिसके ज्ञान से मोक्ष होगा। पर सत्यनिष्ठा श्री परमहंस में ही होती है। परीक्षित को शुकदेव जी से ही ज्ञान हुआ। अन्य ऋषियों में वेदान्त ज्ञान तो था पर उन्होंने राजा को डांटा नहीं क्योंकि आत्म-विश्वास नहीं था। सत्यनिष्ठा शुकदेव जी में ही थी अतः सुनृता वहां थी। यदि मैं सुनृता से यज्ञ कर्म कर रहा हूं तो यह हो नहीं सकता कि सरस्वती उसको धारण न करे। अक्सर लोग जनक आदि का नाम लेकर कहते हैं कि वे गृहस्थ होते हुए भी ज्ञानी थे। वे दूसरों को गृहस्थ लगते हैं, किन्तु जनक, याज्ञवल्क्य आदि गृहस्थ नहीं थे, वे गृहस्थ का आभास मात्र थे। चाहे सैकड़ों बुरे काम करने पड़ें, नियमों में प्रतिबद्धता हो, पर घरवाली को भूखा नहीं मारना, यह गृहस्थी का नियम है। किन्तु याज्ञवल्क्य,

जनक आदि में गृहस्थ का अभिमान नहीं था। हमें अमुक अमुक काम करने हैं, ऐसा गृहस्थ का सा अभिमान संन्यासी को नहीं होना चाहिये।

यही बात शंकर भगवान् कह रहे हैं 'देहन्यासो हि संन्यासः' (सदाचारानुसंधान १७)। केवल कपड़े का रंग बदलना ही संन्यास नहीं है। देह की दृष्टि का न्यास ही संन्यास है। कुछ न कुछ धर्माधर्म होने से भी ब्रह्म में निष्ठा प्राप्त नहीं होती। समय पर वह व्यक्ति फिसल जाता है। पर सुनृत की अन्तरात्मा सदा ठीक ही बात कहेगी, गलत नहीं। उसमें यह स्पन्दन होता रहेगा कि हमेशा दूसरों का कल्याण हो। उसमें सदा सुमति ही रहेगी 'चेतन्ती सुमतीनाम्'। दूसरे के कल्याण की चेतना हमेशा चमकती रहेगी। उनका कल्याण कैसे हो यह स्पन्द होता रहेगा। वहां प्रमाद, आलस्य, कुमति नहीं रहते।

प्रिन्सटन शहर में एक छोटी बच्ची रहती थी। कई दिन तक लगातार वह देर से ४-५ बजे घर आयी। माता ने जब इसका कारण पूछा तो उसने बताया कि मोड़ पर एक मकान में एक गणितज्ञ रहते हैं उनसे मैं सवाल पूछने चली जाती हूं। माता ने सोचा कि किसी से ऐसे फालतू काम नहीं लेना चाहिये, यदि यह उनसे पढ़ने जाती है तो उन्हें कुछ धन देना ही चाहिये। अतः बच्ची के पिता ने एक दिन उसके साथ गणितज्ञ के घर चलने को कहा। भारतवर्ष में तो आज मसीशोष की मनोवृत्ति है, जितना चाहो किसी को चूस लो, वापस कुछ देने का नाम नहीं, पर विदेशों में यह भावना नहीं है। उनकी भावना होती है किसी से मुफ्त कोई काम नहीं कराना चाहिये। यदि पुत्र से बगीचा तैयार कराना है और वह रविवार को काम करता है तो उसके लिये भी पिता उसको पांच डालर देता है। वह बच्ची अपने पिता को साथ लेकर गणितज्ञ के घर गई। उसने जो मकान दिखाया तो उसे देखकर पिता के सिर से पैर तक पसीना छूट गया। वे गणितज्ञ बीसवीं सदी के महान वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टाइन थे जिनके सिद्धान्त

को समझने वाले विश्व में १०-१२ से ज्यादा विद्वान् नहीं हैं। पिता को बड़ा आश्चर्य हुआ और बच्ची से पूछा कि तुम वास्तव में यहां पढ़ने आती हो ? बच्ची पिता को वहां ले गई और पिता ने उस वैज्ञानिक से क्षमा मांगते हुए कहा कि आपको इस बच्ची के कारण बहुत परेशानी हुई है। उन्होंने उत्तर दिया कि इसमें परेशानी की क्या बात है मुझे तो गणित शास्त्र आता है, कोई परेशानी नहीं, और इस बच्ची में गणित के लिये रुचि पैदा होगी। यह है 'चेतन्ती सुमतीनाम्'। किस प्रकार प्राणि मात्र का कल्याण हो, जो भी हमारे सामने आया है उसका कल्याण किस प्रकार हो।

तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया कि धर्म का प्रश्न किससे करें ? जिस से चाहो ऐसे सबसे धर्म विषयक प्रश्न नहीं करना चाहिये। अलूक्षा धर्मकामा स्युः (१·११)। धर्म का प्रश्न उनसे करे जिनके हृदय में रूखापन न हो, जो स्नेह सिक्त हों। आज कल होता यह है कि लोगों को घर ही में वैराग्य होने पर रूखापन आ जाता है। परमात्मा तो प्रेरणा तभी करेगा जब सुमति, सुनिष्ठा होगी। जब सत्य निष्ठा पूर्ण हो गई तब श्रुति कहती है 'यज्ञं दधे सरस्वती' कि तब सरस्वती भी हमारे यज्ञ को—जीवन-यज्ञ को—स्वीकारती है। इसके लिये सर्व 'स्व' त्याग करने की जरूरत है। हम प्रार्थना करते हैं 'धियो यो नः प्रचोदयात्'। अतः हमें वह 'नः' बनना पड़ेगा। भाष्य-कारों ने कह दिया कि चाहे कहीं भी रहो, सच बोलने पर यदि नुकसान होता है तो होने दो, सच बोलना अच्छा लगता है तो सच ही बोलो। यदि परमात्मा को चाहते हैं तो सर्वस्व त्याग करना पड़ेगा, झूठ आदि सब छोड़ना पड़ेगा, सत्य को जीवन का सर्वस्व बनाना पड़ेगा, उसके बिना तो परमात्मा की प्राप्ति नहीं। अतः हमें उस आदि स्पन्द में पहुंचना है, हमें वह बनना है जो परमेश्वर हमें बनाना चाहते हैं; हम जो बनना चाहते हैं वह नहीं बनना है।

जाजू नाम का एक व्यापारी था जिसका व्यापार विदेशों में फैला हुआ था। उसे आश्चर्यजनक पदार्थों को एकत्र करने का

शौक था । एक देश में एक तोता किसी ने उसको दिखाया जिसकी विशेषता यह थी कि वह जो राय देता था वह ठीक होती थी । कीमत एक लाख रुपये थी । जाजूमल गुणग्राही था अतः तोते की परीक्षा लेकर उसको खरीद लिया । अब उसने अपना नियम बिना लिया था कि किसी भी कार्य को करने के पहले तोते की राय ले लेता था और उसे सदा फायदा होता रहा । एक दिन उसे विदेश जाना पड़ा । जाते समय उसने अपने मुनीमों से कहा कि मेरी अनुपस्थिति में तोते से सलाह लेकर काम किया करना । मुनीमों को बड़ी हंसी आई, कुछ अपमान भी महसूस हुआ; पर चुप होकर रह गये । जाजूमल चला गया । अब पानी बरसा । मुनीमों ने तोते से पूछा कि खेती करें या नहीं ? तोते ने कहा कि पिछले साल खाद ठीक नहीं थी इसलिये खेती ठीक नहीं हुई । अब अच्छी प्रकार से खाद डालकर काशीफल बो दो । काशीफल बो दिया गया । एक महीने में फसल तैयार हो गई । ठेके वालों ने छः महीने बाद रकम देकर फसल खरीदने की बात चलाई । तोते से फिर राय ली गई । उसकी राय मानकर काशीफल बेचे नहीं गये । फसल सड़ गई । उनकी खाद बनी । फिर तोते से पूछकर गन्ना बो दिया गया । कुछ माह में सुन्दर गन्ना तैयार हो गया । तोते ने अब राय दी कि गन्ने की फसल को आग लगा दो और राख को गोदाम में भर कर ताला लगा दो । मुनीमों की समझ में कुछ नहीं आया । तब तक सेठ विदेश से लौट आया । वहां उसे बहुत घाटा हुआ था । उसका मिजाज खराब हो रहा था । यहां आकर यह हाल सुना तो उसे तोते पर बहुत क्रोध आया । उसको वहीं राख में पटक कर मार डाला । तोता सोने का होकर उड गया । एवं सेठ को राख के उपयोग का उपदेश दे गया । सेठ के बहुत कहने पर भी उसने कहा कि मूर्खों के यहां मैं नहीं रहता । फिर उस राख से ही सेठ जाजूमल ने करोड़ों रुपये कमाये क्योंकि उस राख में यह विशेपता आ गई थी कि वह सब रोगों को दूर करती थी ।

जाजूमल इस दृष्टान्त में जीव है । जीव भी व्यापार करता है ।

उसे गुणग्राहकता भी मिली और वेद रूपी तोता भी मिला। विद्या रूपी तोते को बतलाने के लिये दक्षिण में मदुरा की मीनाक्षी देवी के हाथ में तोता बना हुआ है। वेद ने साधन तो बता दिये और सकाम कर्म में प्रवृत्ति से वेद पर श्रद्धा भी हुई। तब जीव सर्वतोभावेन वेद को निर्देष्टा मान लेता है। अब जीव जब बहिर्मुखी इन्द्रियादि के साथ व्यवहार करता है तो बहिर्गामी होकर फिसल जाता है। कहता है चलो व्यापार में झूठ बोल लो क्या फरक पड़ता है ? वेद तो कहता है कि केवल शुभ कर्म करो, और कर्म फल को आग लगा दो। तब मन व बुद्धि रूपी मुनीम हंसते हैं। कहते हैं कि हमने इतने शुभ कर्म किये अब फल का त्याग कैसे करदें। पर उन्नति का क्रम वही है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (वा. सं. ४०·२)। परमेश्वर इसी प्रकार प्रेरणा करते हैं। 'रसो वैसः' (गन्ना रस का प्रतीक है)। गन्ना तोते ने बोवा दिया था। यहाँ जीव ने परमात्मा की उपासना की और जब उपासना का फल तैयार होगया तो वेद ने कहा कि इसको भी जला डालो। इससे तो केवल पांच सात लाख रुपये ही मिलेंगे, पर विश्वाधिपति तो नहीं बन पाओगे। 'विद्यया देवलोकः' (छा.) उपासना से अवशेष जो बचा वह ज्ञान ही तो है और वही काम का है। जीव ने विचार किया कि यह ज्ञान तो बेकार का है अतः वेद का ही परित्याग कर देता है। तोते को ही मार डाला। परन्तु बीज तो फल देता ही है। आत्म ज्ञानादि के साधन तो मरे को भी जिन्दा कर देते हैं क्यों कि वे त्रिविध तापों की निवृत्ति करने वाले हैं।

अतः जब परमेश्वर को ही प्रेरक मानेंगे तभी पूर्णता की प्राप्ति हो सकेगी। वही प्रेरणा करता है। जब इस आदिस्पन्द या आदि-संकल्प का स्फुटन होगा तभी पूर्णता की प्राप्ति होगी, एवं परमानन्द में स्थिति होगी।

(७)

अब तक बता चुके हैं कि वही तत्त्व, जो अन्तःकरण के अन्दर

भोक्ता तथा अन्तःकरण के बाहर भोग्य कहा जाता है, दोनों के सम्बन्ध वाला होने से पुनः प्रेरयिता भी कहा जाता है। हम इस प्रेरयिता के रूप पर कुछ विचार कर रहे हैं। क्यों कि इसी प्रेरयिता के रूप में सारे कर्मों का समन्वय, सारी साधना का संकेत और उपासना का मूल भी प्रत्येतव्य है। वेद को भक्ति और ज्ञान भिन्न भिन्न रूप से इष्ट नहीं है। केवल प्रचार के कारण भक्ति और ज्ञान को अलग अलग माना जाता है। पर अब यह देखेंगे कि वेद की मान्यता क्या है।

वेद में भक्ति को कोई मार्ग नहीं माना गया है। 'लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा' (गीता) कह कर भगवान् कृष्ण ने दो ही मार्ग बताये। गीता भाष्य में भगवान् शंकर भगवत्पाद लिखते हैं कि "द्विविधो ही वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च" ज्ञान और कर्म अथवा निवृत्ति और प्रवृत्ति यही दो मार्ग वेद में प्रतिपादित हैं। इसी को भगवान् कृष्ण ने गीता में सांख्य निष्ठा और योग निष्ठा कहा है। अर्थात् इस ज्ञान निष्ठा और कर्म निष्ठा के सिवाय कोई अन्य तीसरी निष्ठा है ही नहीं। अतः वैदिक दृष्टि से केवल यही दो मार्ग हैं। कर्म मार्ग ज्ञान का अधिकारी बनाता है और ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है। कर्म से सीधी मुक्ति नहीं मानी गई है। कोई भी साधक कर्म किये विना कर्म त्याग भी नहीं कर सकता और कर्म करते करते मुक्ति भी नहीं हो सकती। 'न कर्मणामनारम्भान् नैष्कर्म्यम् पुरुषोश्नुते' (गी० ३·४)। बिना कर्म किये नैष्कर्म्य या कर्म-त्याग पद की प्राप्ति नहीं होती। कर्म करने के बाद जब कर्म करने की रुचि या कर्म करने की सामर्थ्य नहीं रहेगी तो स्वभाव से ही कर्म की परिसमाप्ति हो जायेगी। मनुष्य गलती यह करता है कि वह बिना कर्म के ही शान्ति चाहता है। शान्ति तो कर्म-परिसमाप्ति पर ही होगी उसके पहले नहीं। नैष्कर्म्य की प्राप्ति अन्तः करण के शुद्ध होने पर होगी। कर्म और ज्ञान को समझने में प्रायः लोग दो भूलें करते हैं। कर्म को छोड़ने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। कर्म करके, कर्म की पूर्णता में कर्म त्याग से मुक्ति वैदिक मत ही है। 'आरुरुक्षोर्मुनेः योगम् कर्म कारणमुच्यते

योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' (गी० ६·३) । जब तक योग, समाधि प्राप्ति की, इच्छा है तब तक कर्म करे। समाधि की प्राप्ति होने तक कर्म करता रहे। 'आरुरुक्षोः' का अर्थ है समाधि प्राप्ति पर्यन्त कर्म करके शान्त होवे। भगवान ने यहां शम करे नहीं कहा, शमः कारणमुच्यते कहा। कर्म करके शान्त हो जाओ। 'न कर्माणि त्यजेद्योगी, कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ' (अमनस्को० २·१०३)। कर्म की पूर्णता पर वह साधक कर्म को छोड़ता नहीं बल्कि कर्म उसे स्वयं छोड़ जाता है। जब कोई कर्म की इच्छा न करे तो कर्म करना असम्भव हो जाता है। इसी कारण भगवान् ने सांख्य और योग के लक्ष्य को एक नहीं कहा बल्कि सांख्य और योग को ही एक कह दिया। 'एकम् सांख्यं च योगं च' (गी० ५·५)।

इसके बाद कुछ लोगों ने एक तीसरा मार्ग भक्ति का बना लिया और इसी भ्रम में पड़कर अनेक मार्ग चल निकले। एक मोटे दृष्टान्त से समझ लीजिये। बनारस जाने का एक ही रास्ता है। बड़ी रेल से मुगलसराय पहुंचिये, वहां से बनारस का थोड़ा सा ही रास्ता है, ज्यादा नहीं, पर उतनी देर के लिये स्थानीय गाड़ी पकड़नी ही पड़ेगी। गाड़ी मुगलसराय में बदलनी ही पड़ेगी। इसी प्रकार कर्म की गाड़ी परमात्मा की तरफ नहीं जाती। कर्म तो अन्तःकरण शुद्धि तक पहुंचाता है। वहां से थोड़ा सा ही रास्ता शेष है। उतने का नाम ज्ञान मार्ग है। कर्म और ज्ञान दो रास्ते नहीं बल्कि एक ही मार्ग की दो मंजिलें हैं।

अब यह तीसरा मार्ग भक्ति का कहां से आ गया? आज तो यह नारा ही बन गया है कि एक ही जगह पहुंचने के कई रास्ते हैं। इन कई रास्तों का निर्णय कभी होने वाला नहीं है। श्रुति स्पष्ट कहती है 'नान्यःपन्था विद्यते' (पुरुष सूक्त-शु. यजु. ३१/१८) दूसरा मार्ग है ही नहीं, अन्यः पन्था न विद्यते ही श्रौत सिद्धान्त है। विचार से भी यही सिद्ध होता है। एक जगह पहुंचने के लिये अनेक मार्ग तभी हो सकते हैं जब पहुंचने वाला कहीं और

हो तथा पहुंचने का लक्ष्य कुछ और हो। तब तो अनेक रास्ते सम्भव हैं। क्या परमेश्वर हमसे कोई भिन्न है जहां हमें पहुंचना है? यदि भिन्नता होती तो अनेक रास्ते हो सकते थे। यदि जीव को परमेश्वर से भिन्न मान लिया तो परमेश्वर अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान् और अव्यापक हो जायेगा यह सिद्ध कर आये हैं। यदि परमेश्वर को परम मानना है तो उसको जीव और जगत् से भिन्न सिद्ध नहीं कर पाओगे। भेद दर्शन सम्भव ही नहीं है। एक कवि ने लिखा है 'आब में ढूंढे से हरगिज बुलबुला मिलता नहीं'। कहोगे, जी कभी कभी पानी में बुलबुला दीखता तो है, तो आगे कहा, 'और गर मिलता भी है तो वो जुदा मिलता नहीं।' पानी से भिन्न होकर बुलबुले का मिलना सम्भव नहीं है। ऐसे ही आत्मा से भिन्न परमेश्वर की प्राप्ति नहीं। उपाधि से यदि परमात्मा को उपास्य बना भी लिया तो भी आत्मा वहां भी है। जब भी मिलेगा एक होकर ही मिलेगा जुदा होकर नहीं। 'मिलना' शब्द का प्रयोग भी यदि करोगे तो भी अभिन्न होकर ही मिलेगा। दूसरा लक्षण घट ही नहीं सकता।

जब एक कहता है कि परमात्मा की प्राप्ति भक्ति से होती है और दूसरा कहता है कि परमात्मा की प्राप्ति ज्ञान से होती है तो यदि वे वैदिक हैं तो झगड़ा केवल शब्द का है। जॉन स्टूअर्ट मिल ने एक जगह लिखा है कि विरोधी पक्ष की दृष्टि और अनुभूति को समझने का अप्रयास ही विरोध की जड़ हो जाता है। सर विलियम जेम्स इससे भी एक कदम आगे बढ़कर कहते हैं कि विरोधी को जीतने की इच्छा ही विरोध की जड़ है। बस, हर विरोध की जड़ केवल इतनी ही है। केवल भाषा व दृष्टि का भेद है। दूसरे की दृष्टि को न समझने की इच्छा और अपनी दृष्टि को महत्त्व देना ही झगड़े की जड़ है। यही बात ज्ञान और भक्ति पर भी घटित होती है। भक्ति और ज्ञान में एक ही शब्द का भेद है और वह शब्द बहुत छोटा सा है। एक कहता है 'तू' और दूसरा कहता है 'मैं'। एक कहता है 'तू' ही क्षण क्षण में है और दूसरा कहता है 'मैं' ही क्षण क्षण में हूं।

एक कहता है 'तू' ही जर्रे जर्रे में है, दूसरा कहता है 'मैं' ही जर्रे जर्रे में हूं। एक कहता है 'तू' ही सर्वज्ञ है, दूसरा कहता है 'मैं' ही सर्वज्ञ हूं। एक कहता है 'तेरा' ही नूर सब जगह खिल रहा है, दूसरा कहता है 'मेरा' ही नूर खिल रहा है। एक कहता है 'तू' मुझ में है और दूसरा कहता है 'मैं' तुझमें हूं। केवल 'तू' और 'मैं' का ही भेद है। यदि ज्ञान शास्त्र में 'मैं' की जगह 'तू' लिख दीजिये तो वह भक्ति शास्त्र हो जायेगा; और यदि भक्ति शास्त्र में 'तू' की जगह 'मैं' रख दीजिये तो वह ज्ञान शास्त्र हो जायेगा। इसी शब्द भेद के कारण भक्ति और ज्ञान में झगड़ा वेदान्तियों में प्रतीत होता है।

गीता में इस समस्या का हल मिल जायेगा। जरा अठारहवें अध्याय की सैर कीजिये। इसमें भगवान् ने दो श्लोक पास पास रखे हैं। पहले में परमेश्वर का वर्णन है और दूसरे में कहा कि तू उसकी शरण में जा। 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिम्' (गी. १८·६२)। पहले कहा कि उस परमात्मा की शरण में जा, हृदय के सारे भावों को उस पर लगा। उससे परम शान्ति की प्राप्ति होगी। इस प्रकार भगवान् ने भक्ति का स्वरूप बता दिया। पुनः सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' (गी० १८·६६)। सब धर्मों को छोड़ कर केवल मेरी शरण में आ और मैं तुझ को सब पापों से मुक्त करूंगा। पहले कहा था कि 'उसकी' शरण में जा और यहां कह रहे हैं कि 'मेरी' शरण में आ जाओ। बीच के अन्य दो श्लोक दूसरी बातों के लिये हैं इसलिये यहां पर उन्हें छोड़ दे रहे हैं। संस्कृत में हमारे शास्त्रों का नियम है कि इतनी जल्दी पुनरुक्ति कभी नहीं करते और पुनरुक्ति यहां है भी नहीं। इससे पता लगता है कि भगवान् जानते थे कि लोग ज्ञान और भक्ति में झगड़ा करने लगते हैं और उस समय भी इस बात का लोग झगड़ा करने लगे थे। वास्तव में फर्क कोई नहीं है, केवल शब्द का झगड़ा है उसे इधर उधर घटा लो।

फिर ये दो शब्द कहाँ से आये और इनका लोग प्रयोग क्यों करते हैं ? इसका कारण है स्वभाव का भेद । स्वभाव से ही मनुष्य दो प्रकार के होते हैं । एक तो हर बात में 'आप' शब्द का प्रयोग करते हैं । उनसे पूछो कि ये बच्चे किसके हैं ? तो कहेंगे 'जी, आपके हैं' । यहाँ पर 'बच्चे आपके हैं' का अर्थ है कि बच्चे मेरे ही हैं । हम एक भक्त सज्जन के घर में एक बार थे । उनके यहां एक फ्रेन्च महिला हमसे मिलने के लिये आई । उसने पूछा, Is it your house ? क्या यह घर आपका है ? हम भी वहां बैठे हुए थे । उत्तर मिला Its all Maharaj ji's यह सब मकान वगैरह महाराज जी का है । उस बिचारी ने समझा कि वह मकान हमारा ही है और हमसे पूछने लगी कि जिस प्रकार इस घर में अन्य औरतें रहती हैं क्या मैं भी एक कमरे में रह सकती हूं ? हमें समझाना पड़ा कि वक्ता का भाव क्या था ।

श्रुतियों में भी प्रार्थना भिन्न भिन्न शब्दों में हुई है, पर भाव एक ही है । तत्त्व प्रतिपादन में कोई भेद नहीं है । भक्ति में 'तू' शब्द का प्रयोग और ज्ञान में 'मैं' शब्द का प्रयोग होता है । 'प्रेरितारम्' को कहने के तरीके में भेद है । 'मेरा प्रेरक है' यह भक्ति है, और 'मैं प्रेरक हूं' यह ज्ञान है । 'मैं' कौन ? इसे पहले बता चुके हैं कि 'मनसो मनः' अन्तःकरण से विशिष्ट नहीं बल्कि अन्तःकरण से उपलक्षित ही प्रेरक है ।

भक्ति में एक और विशेषता है । साधना करते समय सहारा चाहिये । बहुत कम लोग बिना सहारे के बढ़ते हैं । घर में बच्चों को ही देख लो, बच्चा जब चलना सीखता है तो इधर उधर देखकर एक कदम रखता है । यदि मां की नजर कह दे कि ठीक ही चल रहे हो तो वह दूसरा कदम उठाता है और मां ने यदि उत्साह नहीं दिया तो वह फिर बैठ जाता है । ऐसा ही शब्द प्रयोग या बोलना सीखने में भी होता है । एक डेढ़ वर्ष की छोटी सी बच्ची थी । सब कहते थे कहो बेटी 'राम राम' तो वह नहीं कहती थी । एक दिन पंडित जी

आये तो उनके 'राम राम' कहने पर वह भी कहने लगी। बड़ा आश्चर्य यह देखकर हुआ कि पण्डित जी में क्या आकर्षण शक्ति है कि वह राम राम कहने लगी। मालूम हुआ कि पंडित जी के 'राम' का स्वर दांतों के बीच में खाली जगह होने के कारण 'लाम' निकलता था जो उस बच्ची के 'लाम' से मिलता था। तो उस बच्ची को लगता था कि मैं ठीक ही बोल रही हूं। हमारे शुद्ध बोलने पर उसे लगता था कि वह ठीक नहीं बोल पाती। इस प्रकार बच्चों को सहारा मिलने पर वे आगे बढ़ते हैं।

यदि मैं ही सब कुछ करने वाला हूं तो हिम्मत बंधाने वाला कहां दीखेगा? 'प्रेरितारं च मत्वा' से श्रुति कहती है कि सहारा देने वाला है, यह जान कर सहारा मिलता है। शास्त्रों ने कहा है कि 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' भक्ति से ज्ञान होता है। भगवान् भाष्यकारों ने भी स्पष्ट कहा है "मोक्ष कारण सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी, स्व स्वरूपानुसन्धानं भक्ति रित्यभिधीयते" (वि०चू०३२)। मोक्ष को प्राप्त कराने वाली सामग्री में भक्ति श्रेष्ठ है, पर भक्ति का स्वरूप क्या है? स्वस्वरूपानुसन्धान, आत्मतत्व का अनुसन्धान ही भक्ति है। मां की वाह-वाह से बच्चा नहीं चलता, ताकत तो उसे अपनी ही लगानी पड़ेगी। मां की वाह-वाह से तो उसे हौसला मिलता है। इसी प्रकार अनुसन्धान करने पर प्रयत्न तो अपना ही है, यद्यपि अनुसन्धान में भी परमेश्वर मेरे रूप में प्रयत्न करता है। परमेश्वर की निष्ठा में एक विशेषता है। माता की दृष्टि बच्चे के चलने का कारण नहीं होती उससे केवल साहस मिलता है और वह उन्नति कर जाता है। बच्चा यदि लंगड़ा न हो तो माता की दृष्टि का साहस न मिलने पर भी वह चलने तो लगेगा पर समय का अन्तर पड़ जाता है। भक्ति का वैशिष्ट्य भी इसी दृष्टि से शास्त्रों में जगह-जगह पर विस्तार से बताया गया है क्योंकि इससे सहारा मिलता है। प्रेरक तो वही परमेश्वर है।

प्रेरितारं की भावना में ज्ञान और भक्ति के सिद्धान्त के समन्वय के साथ साथ भक्ति और ज्ञान के साधनों का भी समन्वय है। भक्ति

का अर्थ है अपनी बुद्धि को परमात्मा में लपेट देना। अपनी भावनायें जब हम ईश्वर में लगा देते हैं, अर्थात् परमेश्वर में अपने मन को लपेट देते हैं, तो वह भक्ति कहलाती है। अब थोड़ा शब्द बदल कर इस बात को कहते हैं। ब्रह्म में अन्तःकरण को लपेट देना ही ज्ञान है। अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति बनाना ज्ञान है। वहां भी तो मन की वृत्ति ब्रह्माकार वन रही है। पर वह ब्रह्माकार वृत्ति है क्या ? ज्ञान। भक्त परमेश्वर में मन को लपेट रहा है, ज्ञानी मन की वृत्ति को परमेश्वर में लपेट रहा है। ईश्वर के चरणों में मन को लपेटना भक्ति है, उसके सारे रूप से लिपट जाना ज्ञान है। ऐसा तो नहीं कि परमेश्वर के चरण और शरीर अलग अलग हों ? यजुर्वेद में मंत्र आता है "तद् विष्णोः परम पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः" (शु० य० ६·५)। वेद प्रत्येक शब्द का प्रयोग बड़े विचार से करता है। 'पद' शब्द का अर्थ यहां शुरू का साधक चरण समझेगा। आगे का साधक समझेगा 'पदम् अधिष्ठानम्'। पद को आधार भी कहते हैं। पैर ही शरीर का आधार है। अतः यहां भी श्रुति का तात्पर्य पूरी तरह लिपटाने में ही है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में एक विचित्र मन्त्र आता है। सारे संसार के इतिहास में ऐसी भावना हिन्दू धर्म के अतिरिक्त अन्य कहीं मिलने वाली नहीं है। कम से कम विश्व के बड़े धर्मों में तो नहीं मिलती, किसी Tribal religion छोटे कबीलों के धर्म में कहीं हो तो नहीं कह सकते। वेद में लिखा है "अनवद्या पतिजुष्टेव नारी"। परमेश्वर क्या है तो वेद ने कहा कि वह एक नारी या पत्नी की तरह है। अन्य धर्मों में परमेश्वर को पति तो माना है पर नारी या पत्नी की उपमा केवल वेद में ही है। पत्नी भी कैसी ? अनवद्या, सारे दोषों से रहित। ऐसी नारी ही बहुत कम होती हैं। वेद ने एक अन्य विशेषता भी बतलाई है। 'पतिजुष्टेव' अर्थात् पति के चारों तरफ से लिपटी होने के कारण उसकी अलग सत्ता ही नहीं रह गई है। ऐसी नारी ही पत्नी है। यहां नारी का अर्थ क्या है, इसे साहित्य जानने वाले इस संकेत से समझ सकते हैं कि संविद् शब्द स्त्री लिंग है। संविद् से

लिपटने वाला जो होगा, उसे अज्ञान कहो, मन कहो, या चित्त कहो, उस पति के द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति के समय संविद् रूपी नारी का आलिंगन हो रहा है।

मोटी भाषा में इसे यों कह सकते हैं कि विवाह के बाद लड़की लड़के के घर जाती है, लड़का लड़की के घर नहीं। ब्रह्म अन्तःकरण की वृत्ति में आजाता है अथवा अन्तःकरण ब्रह्माकार वृत्ति वाला होता है या अन्तःकरण ब्रह्म में आता है, इस सब कथन में वृत्ति रूप अन्तःकरण है वहां परमेश्वर आया तो वह चित्त बना। जैसे दृष्टान्त में पत्नी सारे दोषों से रहित कही गई है, ऐसे ही यहां शुद्ध संवित् या चेतन को लेना है। मन्त्र कहता है "देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा। पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी।।" 'देवो न यः पृथिवीं' से कहा जो इस पृथिवी में परम प्रकाश रूप है। पृथिवी शब्द पर ध्यान दीजिये। शरीर पार्थिव है। मनुष्य शरीर को पार्थिव कहते हैं। उसे जलाने पर क्या शेष रहता है? मिट्टी ही तो रहती है। इसमें देव या स्वयं प्रकाश की तरह वही संवित् या चेतन प्रकाश— ही चमक रहा है। वेद की दृष्टि में पत्नी या जाया क्या है? इसे वेदों ने कहा "जायेव योनावरम् विश्वस्मै"। राजा के मुकुट के ऊपर शृङ्गार को योनावर कहते हैं। कुछ साल पहले हिन्दी में यह शब्द बहुत प्रचलित था। पहले शादी की समाप्ति पर 'ज्योनार' हुआ करती थी। अब तो राशन व कंट्रोल का जमाना आगया। वही जोनावर या ज्योनार ही योनावर है। भाषा में 'य' का 'ज' हो जाता है यह नियम है। इस सारे संसार में मनुष्य का जो कुछ भी जीवन है पत्नी उस सबकी शिरोमणि है। अतः पत्नी के बिना कोई कर्म हो ही नहीं सकता, वेद में भी बताया गया कि पत्नी के बिना कोई कर्म पूर्ण नहीं होता। पत्नी की विशेषता के ऊपर मार्कण्डेय पुराण में एक कथा आती है।

राजा उत्तानपाद की सुरुचि नाम की पत्नी से उत्तम नाम का

पुत्र उत्पन्न हुआ। यह वही राजा उत्तानपाद है जिसकी सुनीति नाम की पत्नी से ध्रुव उत्पन्न हुआ था। उत्तम बड़ा होकर राजा बना। राज्य मिलने के पूर्व उसका विवाह बहुला नाम की पत्नी से हो गया। पत्नी के ऊपर उत्तम की बहुत आसक्ति थी। एक क्षण भी उसके बिना नहीं रह सकता था। स्वप्न भी देखता था तो अन्य राज्य जीतने के नहीं, पत्नी के ही देखता था। यदि पत्नी कहती थी कि पीहर जाना है तो वह उत्तर देता कि पीहर जाओगी तो विधवा हो जाओगी, फिर हमको दोष मत देना। धीरे धीरे बहुला उद्दण्ड होने लगी। मानव चित्त का स्वभाव है कि हर बात पूरी होने पर उसमें धीरे धीरे तेजी या उद्दण्डता आने लगती है। तो अब या तो वह बात बात में क्रोध करती थी या फिर जो कहती थी राजा उसे मान लेता था। एक दिन भरी सभा में बहुला ने राजा उत्तम से कहा कि तुम्हारी बुद्धि तो मारी गई, 'हता ते मतिः'। राजा राजा ठहरा। उसे गुस्सा आया। दरबान को बुलाकर कहा कि इसने भरी सभा में हमारा अपमान किया है, इसलिये इसे जंगल में ले जाकर छोड़ दो। रानी का हस्तक्षेप अन्य मंत्रियों को भी अच्छा नहीं लगता था। नौकरों ने ले जाकर उसे जंगल में छोड़ दिया।

थोड़े दिनों के बाद एक ब्राह्मण राजा के पास आया। उसने कहा राजन्, तुम हमारी आय का छठा हिस्सा करके रूप में तो लेते हो, परन्तु हमारी रक्षा नहीं करते, यह बात गलत है। राजा आय का हिस्सा इसीलिये लेता है कि वह रक्षा करे। मेरी पत्नी मेरे साथ सोई हुई थी और वह चुराई गई है। जिस राजा के यहां ऐसा हो वह राजा ही पाप का भागी बनता है। राजा ने कहा तुम अपनी पत्नी का हुलिया बताओ। ब्राह्मण ने अपनी पत्नी का हवाला इस प्रकार दिया कि वह लम्बी है, हाथ छोटे हैं, आंखें बीच में धंसी हुई हैं, नाक मोटा और कान बड़े बड़े हैं; बड़ी कर्कश स्वभाव की है और क्रूर बातें बोलती है; काम करने को कहो तो लट्ठ लेकर मारने को दौड़ती है, रूप और स्वभाव दोनों ऐसे हैं जिन्हें देखकर फिर कभी

देखने की जरूरत न पड़े। यह सब कहकर उसने सोचा कि कहीं लोग गलत न समझ लें कि मैं उसकी निन्दा कर रहा हूं। अतः उसने फिर कहा कि मैं उसकी निन्दा नहीं कर रहा हूं। वह मेरी पत्नी है, मुझे प्रिय है। यह सच्ची बात है। यह सब हुलिया मैंने आपकी पहचान के लिये कहा है। राजा को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा कि ऐसी पत्नी को लेकर क्या करोगे ? मैं तुम्हें दूसरी पत्नी दे देता हूं। ब्राह्मण ने कहा राजन् ! आप पापी हैं और मुझे भी पापी बनाते हैं। धर्मात्मा अपनी पत्नी का परित्याग नहीं करते। पत्नी का परित्याग करने वाला धर्म से भ्रष्ट होकर वर्णसंकर हो जाता है। पत्नी चाहे दुःशीला हो वह पत्नी है। वेदों में जैसा नियम पति के लिये है वैसा पत्नी के लिये भी। राजा को भी बहुला की याद आई। उसने सोचा कि एक यह ब्राह्मण है जो ऐसी कुरूप पत्नी के बिना अपना जीवन जघन्य मानता है। एक मैं हूं। उसे बहुत बुरा लगा। अब राजा स्वयं ब्राह्मण की पत्नी को ढूंढ़नें निकला। वह एक ऋषि से मिला। राजा को देखकर शिष्य से ऋषि ने कहा कि अर्घ्यं लाओ। शिष्य ने ऋषि के कान में कहा कि यह अर्घ्य के योग्य नहीं है। शास्त्रीय पद्धति है कि बड़े को अर्घ्य दिया जाता है। अब ऋषि ने कहा अच्छा आसन लाओ और राजा से कहा कि बैठो। राजा ने पूछा कि क्या बात है, पहले तो आपने अपने शिष्य से अर्घ्य लाने को कहा, उसने जब फुसफुसाकर कुछ आपके कान में कहा तो आपने फौरन् बात बदल दी और कहा कि आसन लाओ। ऋषि ने कहा कि पहले मैंने बिना विचार किये हुए कह दिया था, पर मेरी सेवा करते करते मेरा शिष्य भी सर्वज्ञ है। इसे भी भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान है। यह जानता है कि आप अर्घ्य के योग्य नहीं हैं। यदि वह अर्घ्य ले आता तो शास्त्र विरुद्ध कर्म हो जाता। आपने अपनी पत्नी का त्याग किया है, इसलिये आपके लिये सिर्फ आसन मंगाया है। राजा ने अब अपनी बात कही कि मैं ब्राह्मण की पत्नी को खोज रहा हूं। ऋषि यह सुन कर हंस पड़े। वे बोले कि राजा यदि पाप करे तो प्रजा में पाप बढ़ता

चला जाता है। आपने जानकर पत्नी का परित्याग किया। इससे राक्षसों को साहस मिला तो वे दूसरों की स्त्रियों का हरण करने लगे। ब्राह्मण की पत्नी को एक राक्षस ले गया है। उस राक्षस को जीतकर ब्राह्मण की पत्नी को वापस लाओ। आपकी पत्नी को नाग लोक में ले जाया गया है, वहां से उस को भी लाओ। राजा पहले ब्राह्मण की पत्नी को लाया, फिर लोगों को भेजकर वहुला को भी नागलोक से लाया गया। फिर राजा पवित्र होकर यज्ञ योग्य या यज्ञार्ह व अर्घ्यार्ह हुआ।

इस कथा का रहस्य क्या है? उत्तानपाद का अर्थ होता है जिसका पैर उठा हुआ हो। अर्थात् वही परब्रह्म परमात्मा, सर्वाधिष्ठान। सुरुचि क्या है? उत्तानपाद रूपी परम शिव की सुरुचि या सुष्ठु रुचि पत्नी है। उसी के द्वारा एक विश्व-चित्र तैयार करना है उससे स्वर्ग तुल्य जगत् उत्पन्न है। दक्षिण भारत में भगवान् शंकर की नटराज मूर्ति देखो तो उसमें सदा एक पैर उठा ही रहता है। किसी एक भक्त ने एक ऐसा शंकर मन्दिर बनाया जिसमें उनका दांया पैर उठा है, और वे बांये पैर पर खड़े हैं। भक्त ने सोचा कि भगवान शंकर थक गये होंगे। 'पादोस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३·१२)। सुष्ठु रुचि, अर्थात् विश्व की एक मूर्ति तैयार करना ही उनकी रुचि है। उसी सुष्ठु रुचि से स्वर्ग तुल्य जगत् बना जहां आनन्द के सिवाय और कुछ नहीं है। और सभी आनन्द की ओर ही जा रहे हैं। उत्तम है सुरुचि द्वारा उत्पन्न जीव। वही उत्तम कृति है। 'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्' (गी० ७·५)। परमात्मा का पुत्र उत्तम है। उत्तम जीव को करना क्या है? बहुला के साथ उसका विवाह कर दिया गया। जीव की पत्नी रूप से वही संवित् विद्यमान है। शास्त्रों में भी नारी को कहीं कहीं बहुत रूप धारण करने वाली कहा है। उसे ही बहुला क्यों कहा? पुरुष तो दो सूट में भी साल निकाल दे किन्तु स्त्री को सुबेरे शाम, कम से कम दो समय तो भिन्न वस्त्र चाहिये ही, और यदि हो जाय तो चार भी। कभी पन्ने का आभरण

तो कभी माणिक हीरे का चाहिये। आजकल तो नया रिवाज चला है जिस रंग की साड़ी हो उसी मेल का अन्य प्रसाधन भी चाहिये। संवित् ही बहुला है। मंत्र यही कह रहा है "अनवद्या पतिजुष्टेव नारी"।

संवित् अनेक रूप धारण कर रही है। कभी प्रिय सुन्दर रूप धारण करती है तो आसक्त होता है। जब वही संवित् महाकाली का रूप धारण करती है तो जीव डरता है, भागता है। वृन्दावन में भगवान् का ठाठबाट देख कर प्रसन्न हो जाता है। अन्त में वही संवित् मृत्यु का स्वरूप बनती है। कमनीय मूर्ति कृष्ण ने अर्जुन को वह रूप दिखाया 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' (गी० ११·३२)। अर्जुन भक्त है। उस रूप को देख कर घबरा गया। कहने लगा 'तदेव मे दर्शय देव रूपम्' (गी० ११·४५)। मुझे डर लग रहा है, मुझे अपने कमनीय मोहक रूप का दर्शन कराइये। जीव संवित् की सत्ता को पूरा नहीं जानता अतः उसे मीनाक्षी का रूप तो मनमोहक लगता है पर महाकाली का दर्शन डरावना। लोग मृत्यु से घबराते हैं और जन्म लेने से प्रसन्न होते हैं। विचार कीजिये क्या जन्म और मृत्यु में कोई अन्तर है ? यदि किसी ने जन्म लिया है तो इसका मतलब है कि मरकर के आया है, और यदि मरा है तो कहीं जन्म लेगा। अतः समझने की बात यह है कि संवित् ही अनेक रूप धारण कर रही है, इसीलिये वह बहुला है। जीव संवित् के भीषण रूप को देख कर उससे अलग होना चाहता है। इसी को ईशावास्योपनिषद् में आत्म-हत्या कहा गया है। "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः" (३)। राजा ने जब अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया तो दृष्टान्त में ब्राह्मण उसे उपदेश देने के लिये आता है। ब्रह्म का प्रतिपादक वेद ही ब्राह्मण है। ब्राह्मण वेद का अध्ययन करने वाला होता है, इस कारण पूज्य है। ब्राह्मण वेद का घूमता फिरता रूप ही है। ब्राह्मण राजा से कहता है कि संवित् का एक रूप

तुमने देखा है। अब मैं उसके दूसरे रूप का वर्णन करता हूं, सुनो। मुण्डकोपनिषद् में संवित् के अनेक रूपों का जहां वर्णन किया गया है वहां एक रूप "काली कराली च मनोजवा च" भी कहा है। दश महाविद्याओं में आद्य को ही काली कहा है। काली कराली वही संवित् है और वही मनोजवा है। ज्ञान और भक्ति में यह भेद है" कि भक्त मनोजवा से शुरू करके काली तक पहुंचता है और ज्ञानी काली से शुरू करके मनोजवा तक पहुंचता है। आगे चलकर दोनों रास्ते एक हो जाते हैं, केवल क्रम में भेद है। जो संसार की सुन्दरता को देख कर असौन्दर्य में भी सुन्दरता देखे वह भक्त है। ज्ञानी असुन्दरता का विचार करके निर्वेद या वैराग्य को प्राप्त करता है। वैराग्य प्राप्त करके ही उसे सर्वं खलु इदं ब्रह्म का ज्ञान होता है। अतः ज्ञानी काली कराली को ही मन को प्रिय लगने वाली मनोजवा बना लेगा। भक्त पहले सुन्दर रूप को देख कर काली को अपनाता है। पहले उसका मन भगवान् की सुन्दर मूर्ति को देख कर आकृष्ट होता है। फिर वह आगे चलकर कहता है कि मृत्युस्वरूप भी तो वही है। जैसा कि भगवान् ने अर्जुन से कहा कि विराट् रूप सें मैं ही काल हूं एवं सबका क्षय करता हूं। अर्जुन भयभीत हो गया 'भीतः' (गी० ११-३५)। भगवान् ने कहा यह भी मेरा ही रूप है, काली कराली भी संविद् है।

उत्तम नामक राजा अर्थात् जीव आश्चर्य करता है कि यह ब्राह्मण (वेद) ऐसे भयंकर संविद् को भी नहीं छोड़ना चाहता और मैंने तो सुन्दर संविद् का परित्याग कर दिया है। तब उसमें दृढ़ता आती है कि संविद् ही उसके पत्नी रूप में है जिसका उसने त्याग कर रखा है। तब वह संविद् को ढूंढता है। जब तक वह संविद् से भिन्न हुआ रहता है तब तक वह अर्घ्य के योग्य नहीं है। यह संविद् ही सब शरीरों में पूजनीय है। यदि संविद् या चेतना-शक्ति न हो तो शरीर अर्घ्यं योग्य नहीं है, तब तो वह कपाल भेदन के ही योग्य है।

ऋषि के पास जाकर राजा ने यही समझा कि संविद् के बिना

जीव कुछ भी नहीं है। अतः वह पुनः अपनी संवित् को ग्रहण करता है। संविद् की दृष्टि सर्वत्र करना ही ज्ञान और भक्ति की चरम सीमा है। वही संवित् 'अनवद्या पतिजुष्टेव नारी' है। और वही 'देवो नः यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हित मित्रः' विश्वधाया और मित्र है।

'देवो नः यः पृथिवी' से ध्वनि निकलती है कि जो हमेशा सारे शरीरों से संलग्न रहे, केवल स्थूल शरीर से ही नहीं वही संविद् है। संविद् स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों में संलग्न रहती है। यह संवित् इतने शरीरों को धारण क्यों करती है? संवित् को अलग-अलग करने के लिये उनमें मन रूपी पर्दा डाल कर संवित् के अनेक रूपों का अनुभव होता है। उसी पर्दे को हटा कर संवित् एक रूप दिखाई देती है। स्वतंत्रता तो अन्तःकरण में आने पर भी है। जब माया से बंधन में नहीं पड़ता तो वहां भी स्वतंत्र है। विदेह कैवल्य की अवस्था में भी लाखों मजे हैं, क्यों कि स्वतंत्रता पूर्वक संविद् में रहना आनन्द पूर्ण तो है, किन्तु माया के अन्दर फड़कते रहना, जीवन्मुक्ति का आनन्द कुछ और ही है। यहां बाहर प्रकट न होने पर भी आनन्द तो है, इसीलिये माया को केवल पर्दा कहा गया है। 'माया यवनिकाच्छन्नम्'। माया रूपी पर्दे के अन्दर भी वह बैठा है। माया के अन्दर वह सूक्ष्म रूप से बैठा है। स्थूल में भी सम्बन्ध तो है, और कारण शरीर में तो सम्बन्ध है ही। अतः इन तीनों शरीरों में संविद् रूपी देवता ही पृथिवी विश्वधाया है। जिसने संविद् के इस रूप को धारण या ग्रहण कर लिया उसी को हमारे यहां देवता कह देते हैं।

'उपक्षेति हितमित्रः' से श्रुति कह रही है कि वह संवित् नित्य नवीन रूप धारण करती है। आज कल लोग क्लब घरों में जाते हैं। जब उनकी पत्नी हमसे आकर कहती हैं कि पति उनकी उपेक्षा करने लगे हैं तो हम उन्हें उत्तर देते हैं कि यदि वही अभिनय तुम उन्हें घर पर ही दिखादो तो वे क्यों क्लब घर में जांय। जब उन्हें वह मजा घर में नहीं आता तभी न वह क्लब घरों में अभिनय देखने जाते हैं।

पहले जमाने में पत्नी शृङ्गार करती थीं जब पति के घर आने का समय होता था, आजकल वे शृङ्गार करती हैं जब पति बाहर जाते हैं!

इस श्रुति में पत्नी को हितकारी इसी लिये कहा गया है कि संवित् हितकारी या कल्याण करने वाली है। आजकल तो संवित् भी हमेशा हितकारी नहीं लगती, इसीलिये लोग 'Bore' बोर होने लगे हैं। यह 'बोर' होना क्या बला है? संवित् का अभाव ही तो 'बोर' होना है। पहले वह बोर बाहर था। मारवाड़ में बोर एक शृङ्गार था जो बाहर ही सिर के ऊपर धारण किया जाता था। अब वही बोर सिर के अन्दर घुस गया है।

संवित् तो सदा जीव का ही लाभ सोचती है। अतः अन्त में श्रुति कहती है कि पुरः सदः शर्म सदः न वीरा। तीनों पुरों में, सारे भावों में वही संवित् है, वही वीरा भी है। ऐसी संवित् पतिजुष्टा रूप हुई पति को धारण करती है। प्रेरितारम् का यही उद्देश्य है।

(८)

इस प्रकार भगवती श्रुति परमात्म तत्व का सम्पूर्ण रूप से वर्णन कर रही है अतः उसे समझने के जितने भी प्रकार हैं उनको संक्षेप से बता देती है।

एतद् पद से उस तत्व का स्वरूप बता कर उसे अत्यन्त समीप बताया। इस प्रत्यक्ष सिद्ध समस्त संसार में, अनुभूयमान जगत् में, सब अनुभूतियों में जो तत्व सर्वथा प्रकट है वही आत्म तत्व है। वेद ब्रह्म का निरूपण करते समय स्पष्ट उद्घोष करता है कि 'यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ. ३·४.) जो अपरोक्ष है वही ब्रह्म है। जिसे समझने के लिये और किसी चीज की आवश्यकता न हो, जो स्वयं प्रकाश हो, उसे एतद् कहा और यह भी कहा कि उसे जानना चाहिये। प्रश्न पूछा जा सकता है कि जो सिद्ध है उसे जानने से क्या मतलब? पर वह अनुभव के आधार पर सामान्यतः ही सिद्ध है।

जो चीज कुछ कुछ तो जानी जाय पर पूरी आज तक न जानी गई हो वही तो जानने योग्य होती है। जब तक उसे थोड़ा बहुत जाना न जाय तब तक उसे जानने की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। एक उदाहरण लीजिये। केक में यदि अण्डा डाला जाय तो वह मुलायम हो जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि बिना अण्डे का केक मुलायम हो ही नहीं सकता। हमने एक बार ऐसा केक खाया था जिसमें अण्डा नहीं डाला गया था। हमें वह बहुत मुलायम लगा। पहले जिसने अण्डे से बना हुआ केक खा रखा था उस के लिये बगैर अण्डे का वह केक कड़ा ही था, पर हमें तो वह बहुत मुलायम लगा। जैसे यहाँ सामान्य केक की मुलायमियत जानने पर भी विशेष केक की मुलायमियत अज्ञात है वैसे ही आत्मा में भी है। इस प्रकार किंचित् ज्ञान होने पर ही अधिक ज्ञान के लिये प्रवृत्ति हो सकती है अन्यथा नहीं।

सर्वथा ब्रह्म को यदि नहीं भी जानते हैं तो किंचित् या थोड़ा तो उसे जानते ही हैं। मैं हूँ, मैं जानने वाला हूँ, आदि प्रयोग सब करते हैं, अर्थात् ऐसा सभी लोग कहते हैं। इसका सीधा तात्पर्य है कि ब्रह्म को सत् और चित् रूप से थोड़ा सा तो सबने जाना है पर पूरा नहीं जाना। उस ब्रह्म के दूसरे Facets पहलू भी हैं जो नहीं जाने गये। वे पहलू हैं आनन्द और आनन्त्य। हमने यह नहीं जाना कि मैं आनन्द रूप, अनन्त और सर्वव्यापक हूँ। इसी सर्वव्यापकता को जानने के लिये प्रवृत्ति बनती है। अतः श्रुति ने कहा कि जो सर्वानुभव सिद्ध एतद् ब्रह्म है, वह ज्ञेय है।

उसे जानने के लिये कहां जांय ? तो श्रुति ने बता दिया— नित्यमेवात्मसंस्थम्। अपनी आत्मा में ही उसको जानो। उसका ज्ञान आत्मा में ही होगा। बाह्य जगत् में कहीं भी ब्रह्म का दर्शन नहीं हो सकता क्योंकि वेद उसे आत्म संस्थित बता रहा है। 'नित्यम्' पद से श्रुति कह रही है कि वह तत्व सदैव उपलब्ध है। उसे दूसरी जगह ढूंढना व्यर्थ है। अतः आत्मा में ही उसको जानो। बाह्य जगत् की तरह आत्मा भी अनन्त है। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश'

(छा०८.१) बाह्य जगत् कितना बड़ा है, उसका कितना परिमाण है, वह कितना महान् है इसकी कोई सीमा नहीं। अभी तो हमारे वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत यान केवल चन्द्रलोक तक पहुँच पाये हैं, जो उस अनन्त आकाश का एक कोना भी नहीं है। ऐसे भी तारे इस आकाश में हैं जिन तक पहुँचने के लिये यदि १,८६,००० मील प्रति सेकिण्ड चलने वाले हवाई जहाज में बैठो तो २८ लाख साल के बाद वहाँ पहुँचोगे। चन्द्रमा की दूरी तो उनकी दूरी के मुकाबले में कुछ भी नहीं है। अतः बाह्य जगत् की परिधि अनन्त है और वह कभी पूर्ण होने वाली नहीं है।

अब वेद कहता है कि 'तावान्हृद्यन्तराकाशः' जितना बड़ा यह बाह्य आकाश है उतना ही बड़ा हमारे हृदय के अन्दर का आकाश है। अर्थात् आत्म तत्व का अन्वेषण करने निकलो तो जैसे बाह्य विश्व की सीमा नहीं है वैसे आभ्यन्तर जगत् की भी इयत्ता नहीं है। भाष्यकारों ने बताया 'इदमित्थम् रूपम् अनिर्णीतत्वात्' कि आत्मा के विषय में यह कहना असम्भव है कि यह ऐसा ही है क्योंकि कोई भी उसकी सीमा को नहीं कह सकता। सीमा अनिर्णीत है। यह तो कह सकते हैं कि वह 'क्या नहीं है'। मन भी अनन्त है, विश्व का ज्ञान भी अनन्त है। अनन्त अन्तर्जगत् को ढूंढो तो जितना ही अन्दर जाओगे वहां अनन्त आनन्द अपने अन्दर ही मिलेगा। जितना अन्दर जाओगे उस आनन्द का भोग करोगे। बाह्य जगत् में आनन्द अनन्त नहीं है। वहां तो अन्दर के अनन्त आनन्द की छाया ही मिलेगी, वास्तविक आनन्द नहीं।

शीशे में बढ़िया रसगुल्ला सजाकर रखा हुआ दीख रहा है। एक व्यक्ति ने उसे देखा और उसे देखकर बड़ा आनन्द आया और मुंह में पानी आ गया। उसने चारों तरफ देखा कि कोई देख तो नहीं रहा है। जब एकान्त का निश्चय हो गया तो फौरन हाथ बढ़ा कर उस रसगुल्ले को उठाने लगा तो ठंडा कांच ही हाथ लगा। रसगुल्ला तो कांच की अलमारी में बन्द था। वहां तो शीशे में रस-

गुल्ले का प्रतिबिम्ब है। रसगुल्ले की अलमारी में ताला बन्द है। शीशे में तो रसगुल्ले का प्रतिबिम्ब आभास मात्र है। प्रतिबिम्ब से कुछ सुख तो मिला, पर असली आनन्द तो रसगुल्ले को खाने में ही है।

ठीक इसी प्रकार हृद्यन्तराकाश में रहने वाले अनन्त आनन्द की छाया से कुछ सुख तो मिलता है, पर जब तक उसे पूर्ण रूप से आत्मसात् न कर लिया जाय, आत्मा से न मिला लिया जाय, तब तक वह केवल सुख की छाया है, आभासमात्र है। वास्तविक सुख तो उसे आत्मसात् करने में है। हमने एक बार एक शीशी देखी जिसको हाथ में लेकर खोलने की कोशिश की तो खुशबू आई। हमने सोचा कि इसमें इत्र है। उस शीशी को उलटते रहे पर उसमें से कुछ निकला नहीं। वह ऐसी शीशी दिखी कि खुशबू तो आ रही है पर निकलता कुछ भी नहीं है। मालूम पड़ा कि उसमें चौर्य-रक्षक (Pilfer-Proof) कागज लगा हुआ है। जब तक उसमें छेद न करोगे इत्र मिलने वाला नहीं। उसकी खुशबूमात्र से खरीददार उसे खरीद लेता है। हमने कहा कि ठीक इसी प्रकार का हमारा ब्रह्म भी है। हमारे हृदय रूपी बोतल में उसका आनन्द भरा पड़ा है। वह आनन्द बाहर कुछ सुगन्धि फैला रहा है जिससे स्पष्ट होता है कि वह आनन्द कितना अनन्त, असीम है। वह कभी आंखों से टपकता है, कभी कानों से किन्तु असली अनन्त आनन्द कभी इसमें से नहीं निकलता। पता लगता है कि जब आंख की शक्ति इस अनन्त आनन्द को देखती है तो वह आंख अनन्तकोशों के भीतर से उसके एक लव मात्र को देख रही है। वह खुद कितना महान होगा ? परम आनन्द, परम शान्ति की प्राप्ति तभी होगी जब आन्तरिक आंख खुलेगी। अभी तो केवल पता लगता है कि वह आनन्द कितना बड़ा है। उसे प्राप्त तभी कर पाओगे जब उसे पाने का प्रयास करने के लिये अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करोगे।

इस परमानन्द की प्राप्ति से क्या होगा ? बोतल की सुगन्धि बाहर से लेने का तो तुम्हें अधिकार है। पर यदि उसके अन्दर के

इत्र को अपनी अंगुली में लपेटना चाहो तो उसे क्रय करके अपना बनाना पड़ेगा। फिर जब उंगली में लपेट लोगे तो पास आने वाले को भी खुशबू मिलेगी ही। अनन्त आनन्द प्राप्त करने पर वह स्वतः ही चारों ओर फैल जायेगा। तुम स्वयं आनन्द रूप हो, जिधर दृष्टि करोगे उधर भी आनन्द फैला पाओगे। सर्वत्र आनन्द की ही सृष्टि करोगे। 'ब्रह्मैवाहमिदम् जगच्च सकलम् चिन्मात्रविस्तारितम्'। जब तक स्वयं उस आनन्द को प्राप्त नहीं कर लोगे, दूसरे को क्या आनन्द दोगे। हम लोगों में एक बड़ा भारी रोग है कि हम लोग बिना पाये ही बांटते हैं। जब कोई वस्तु पालेते हो तभी उसे बांटने का अधिकार है। तभी फायदा भी है। हम दूसरे को आनन्द देना चाहते हैं, पर स्वयं हमारा हृदय तड़प रहा है। स्वयं हम में तो राग भरा है, दूसरे को वैराग्य का उपदेश देते हैं। इसी लिये हमें वह आनन्द मिलता नहीं। अतः श्रुति ने कहा कि उसे जानो। उसे जानने के बाद 'नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्'। उस अखण्ड आनन्द के बाद कुछ भी शेष नहीं। बाकी सारी तैयारियां तो उसी के लिये हैं। जब वही मिल गया तो आगे कुछ करना नहीं है।

एक आदमी एक फुटपाथ पर नंगा पड़ा हुआ है। कौपीन भी नहीं है, तकिया भी नहीं है। ठंड पड़ रही है। किन्तु वह परमानन्द में मग्न है। आनन्द की पूर्णता उसे मिल रही है। वह आनन्द के स्रोत आत्म तत्व के साथ एक हो गया है। 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः'। यहां भगवान् भाष्यकार ने 'खलु भाग्यवन्तः' क्यों कहा? क्यों कि वह क्षण ही आनन्द वाला है जहां परमानन्द की प्राप्ति हो गई। एक तरफ वह व्यक्ति भी है जो बढ़िया से बढ़िया मखमल के गद्दे पर लेटा हुआ है, तापक भी लगा हुआ है, सारे खुशबूदार प्रसाधन सजे रखे हुए हैं, किन्तु सोया हुआ तड़प रहा है। नींद नहीं आ रही है। आचार्य विद्यारण्य स्वामी एक जगह लिखते हैं कि राजा पड़ोसी राज्य को जीतने की तड़प में है 'पर-राष्ट्र-जिगीषया'। आनन्द आये तो कहां से? अन्दर के आनन्द को प्राप्त किये बिना बाह्य जगत् की

चीजें आनन्द नहीं देतीं वल्कि उल्टा दुःख को बढ़ा देती हैं। अतः श्रुति ने कह दिया कि उस अखण्ड स्रोत को खोलो, इससे भिन्न कुछ भी नहीं है। भाष्यकारों ने भी कहा कि यही आनन्द रात दिन फैल रहा है।

नींद में भी यही आनन्द है। कैसे है? इस पर आचार्य अभिनवगुप्त लिखते हैं कि एक व्यक्ति सुन्दर बिछौने पर सोया है। उसे नींद आ गई। नींद में उसे भान ही नहीं रहा कि मैं सुन्दर बिछौने पर सोया हूं। उसे पुत्र-दारा का भी भान नहीं हो रहा है। किन्तु उसके नौकर चाकर जब उसको देखते हैं तो कहते हैं कि वह अपने घर वालों के बीच बड़े सुख से सो रहा है। पर उसका अपना अनुभव क्या है? उठने पर वह कहता है कि मैं रात भर इसी प्रकार सुख से था। रात भर अपने को भोक्ता मानता है। सोने के पहले और जगने के बाद में एक जैसी स्थिति होने से वह सोने के काल में भी अपने भोग के सुख को मानता है। पर यदि पत्नी सुबह उठकर देखे कि पतिदेव तो गायब हैं, जैसा कि बुद्धदेव की पत्नी को अनुभव हुआ था और चारों तरफ पति को ढूंढ़े और वे नहीं मिलें तो सोकर उठने के बाद उसको यह भान हुआ कि मेरे पति मुझ से बिछुड़ गये। रात में कब चले गये यह पता नहीं। पर सोने के क्षण में तो उसे पता था कि पति साथ थे। वह पत्नी यदि उठने के बाद भी अपने पति को साथ ही देखती तो अपने को रात भर का भोक्ता मानती।

अब ज्ञानी के सुषुप्ति काल के अनुभव का विचार कीजिये। वहां भी ब्रह्म रूप भान है। नींद में ब्रह्मानन्द ही है। सोने के प्रथम क्षण और उठने के प्रथम क्षण में वह अपने को ब्रह्म की ही गोद में देखता है। अतः भाष्यकारों ने कहा कि ज्ञानी दिन रात ब्रह्म में ही रमण करते हैं। अखण्डानन्द की उपासना के बाद कुछ भी शेष नहीं बचता। तभी सारे दुःखों की निवृत्ति होगी। बाह्य पदार्थों से दुःख कभी शान्त होने वाला नहीं।

परमानन्द की प्राप्ति का अर्थ समझिये। 'परम्' शब्द को दोनों तरफ लगा सकते हैं। जिसके आगे भी कुछ नहीं और पीछे भी कुछ नहीं वही 'परम्' है। उसका क्या रूप है? वही परमात्मा सृष्टि काल में भोक्ता, भोग्य और प्रेरयिता बन गया। एक ही ब्रह्म तीनों क्यों बना और कैसे बना? माया से। यह माया या अज्ञान कहां से आया? वह अनादि है। यह अद्वैत सिद्धान्त है। इस पर जब भगवान् सुरेश्वराचार्य ने विचार किया तो वे कहते हैं कि माया या अविद्या रूपी कारण कुछ लचीले हैं। ब्रह्म माया से जगत् हो गया, यह कुछ कमजोर कारण है। यदि कहो कि जब तक वह एक से अनेक नहीं बना तब तक उसे कुछ कमी मालूम पड़ रही थी, या वह आनन्द का भान नहीं कर रहा था। तो आनन्द स्वरूप को आनन्द का भान करने की क्या आवश्यकता थी? अतः भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'अतो विमुच्य चोद्यानि श्रूयतां महिमेश्वरः' (वार्त्तिक)। वे कहते हैं कि ब्रह्म से जगत् और जीव कैसे बन गये इसका वेदान्त ने यौक्तिक उत्तर तो दे दिया कि कार्य ब्रह्म और कारण ब्रह्म भी महेश्वर ही है। पर क्या अब आप आनुभौतिक सच्ची बात सुनना चाहते हो? तो सच्ची बात केवल एक शर्त पर सुना सकते हैं। वह शर्त यह है कि इसको सुनने के बाद आगे आप फिर कोई प्रश्न नहीं करोगे। वाति वायुर्यथाकस्माद् अकस्माच्चोपशाम्यति निर्निमित्तं तथैव स्यात् कर्मोद्वोधोपसंहृती॥ (वार्त्तिक) समुद्र में शान्ति है। चारों तरफ कुछ नहीं है। केवल एक प्रशान्त महासागर है। अकारण ही हवा चलती है। यदि समुद्र नहीं देखा हो तो अपने ही दृष्टान्त से समझिये कि बाहर सुहावना मौसम देखकर आपकी इच्छा घूमने की हो गई। सब तैयारी करके, कपड़े आदि पहनकर बाहर निकले। अकारण ही थोड़ी देर में हवा चलने लगी। जब आपका मौसम विज्ञान कहता है कि आज बारिष होगी तो अक्सर एक बूंद भी पानी नहीं पड़ती, और जब कहते हैं कि मौसम साफ रहेगा तो उस दिन पानी झरता है। आपने बरसात के लिये तो कोई

तैयारी ही नहीं की थी। घूमने निकल पड़े थे। अब इस वरषा का क्या कारण बतावें ? इसका उत्तर सुरेश्वराचार्य जी के शब्दों में निर्निमित्ते है। परब्रह्म भी अकस्मात् कर्म-दृष्टि करता है—कर्म नहीं करता—फिर उपशान्त हो जाता है। अतः केवल न्याय के ही विचार से सारा काम ठीक नहीं होता। एक दृष्टान्त लीजिये। एक राजा था। उसका सिद्धान्त ठीक न्याय करने का था। यदि कोई व्यक्ति किसी का नुक़सान कर देता था तो वह अपराधी से उस नुकसान की पूर्ति करवाता था। और न्यायशील ऐसा था कि न्याय करते समय न्याय के अतिरिक्त अन्य कुछ विचार नहीं करता था। एक बार उसके पास एक धोबी पहुंचा। उसने शिकायत की कि मेरा एक गधा है, जो मेरी जीविका का एक मात्र सहारा है, उसे एक ब्राह्मण ने इतने जोर से मारा कि उसकी दो टांगें टूट गईं। अब उसने राजा से कहा कि आप न्याय कीजिये। राजा ने ब्राह्मण का नाम और ठिकाना पूछ कर उसे बुलाया। ब्राह्मण ने राजा के पास आकर कहा कि मेरे साथ भी अन्याय हुआ है। इसका गधा मेरे खेत में चरने जाता था। मैंने उसे कई बार पहले हटाया और इससे भी कई बार कहा कि अपने गधे को मेरे खेत पर मत छोड़ा करो। पर यह माना नहीं। इसने सदा की तरह अपने गधे को मेरे खेत पर चरने के लिये छोड़ दिया। मैंने क्रोध में आकर जोर से डंडा मारा तो गधे की दो टांगें टूट गईं। बाद में इस दुष्ट ने मेरी पत्नी को इतना पीटा कि उसका गर्भ भी गिर गया। धोबी से पूछा गया तो उसने ऐसा होना कबूल भी कर लिया। तब राजा ने कहा कि यह तो बहुत अनुचित कार्य हो गया है हम अवश्य न्याय करेंगे। अनुचित बातें दो हो गई हैं। ब्राह्मणी का गर्भ गिरा और गधे की दो टांगें टूट गईं। दोनों को हर्जाना देना होगा। अतः जब तक धोबी का गधा ठीक चलने फिरने लायक न हो जाय तब तक ब्राह्मण को धोबी का बोझा ढोना होगा। और ब्राह्मणी का गर्भ गिर गया है अतः इस धोबी को उसे गर्भ-दान देना पड़ेगा। ब्राह्मण और

ब्राह्मणी इस न्याय को सुनकर घर गये और दोनों जहर खाकर मर गये।

अतः सर्वत्र न्याय से ही बात ठीक नहीं जमती। दार्ष्टान्त में इस घटना को घटाइये। राजा की जगह पर तर्क शास्त्र है। वह विचार करता है कि संसार में दो जातियां हैं, एक आत्म जाति, ब्राह्मण, और दूसरी अनात्म जाति, धोबी। तर्क शास्त्र विचार करता है कि आत्मा के राज्य में अनात्मा, अज्ञान, का प्रवेश हो गया है। अपराध तो धोबी का है कि उसने गधे को ब्राह्मण के खेत में चरने के लिये छोड़ दिया था। यहां अज्ञान का अपराध है पर आत्मा तड़प रहा है। राजा भी धोबी का अपराध होने पर दण्ड ब्राह्मण को ही दे रहा है। अज्ञान का अपराध होने पर भी दण्ड आत्मा को ही दे रहा है। तर्कशास्त्र इससे छुड़ाने के लिये एक विचित्र युक्ति देता है कि अज्ञान का बोझ भी आत्मा पर ही लादो कि वह जीवात्मा बना रहे और अज्ञान से किये हुए कर्मों को भोगता भी रहे। सभी लोग कहते हैं कि क्या करें जबर्दस्ती अज्ञान हमारे अन्दर घुस गया, हमारा कोई दोष नहीं है। दूसरी तरफ यह कहा जा रहा है कि अनन्त आनन्द स्वरूपिणी आत्म शक्ति में अनात्मा का गर्भ धारण होगा। ब्राह्मणी में धोबी के गर्भ धारण करवाने की यही व्यवस्था राजा ने की थी। यह फैसला तो तर्कशास्त्र का है। पर वेदान्त कहता है कि यहां युक्ति से काम नहीं चलेगा। तुम ही अज्ञान रूप बने हो यह न्याय गलत है। यदि युक्ति से आत्म तत्व को समझने का प्रयास करोगे तो गलत समझोगे। कैसे अज्ञान घुस गया, यह मत पूछो। तर्क मत करो। यदि अनुभव सिद्ध बात को समझना चाहते हो तो वह अनुभव से ही जानने में आयेगी। अतः अब वेदान्त-दृष्टि समझाते हैं।

एक चित्रकार था। वह एक पहांड़ पर चढ़ कर गया। वहां वह एक इतने ऊंचे स्थल पर चढ़ गया जहां से पौर्णमासी के दिन सूर्यास्त और चन्द्रोदय साथ-साथ होता हुआ दीखता था। उसने उस सुन्दर

दृश्य का चित्र खींचने का निर्णय किया। वह चित्र बनाने लगा। अति-सुन्दर चित्र बन गया। यदि चित्र को दूर से देखा जाय तो वह नजदीक से देखने की अपेक्षा और भी सुन्दर लगता है। अतः बने हुए चित्र की सुन्दरता देखने के लिये वह जरा पीछे को जाने लगा। थोड़ा पीछे जाने पर चित्र का सौन्दर्य खिल उठा। वह और पीछे चलता गया। वह बिल्कुल तन्मयता से चित्र को देख रहा था और यह भूल गया कि वह पहाड़ पर खड़ा था। उसे यह ध्यान ही नहीं रहा कि कितना पीछे जाना चाहिये ताकि वह पहाड़ पर से गिर न पड़े। चित्र को देख कर वह मुग्ध हो रहा था। अपने ही बनाये हुए चित्र पर उसको ऐसा मोह हो गया कि अपने वातावरण की सुधि ही नहीं रही। पीछे खिसकते-खिसकते वह एक ऐसे स्थल पर पहुंच गया कि यदि एक कदम भी और पीछे को चलता तो धड़ाम से गिरता और पहाड़ से नीचे लुढ़क कर चकना चूर हो जाता। अब बिल्कुल कगारे पर पहुंच कर वह पीछे की ओर रखने को अन्तिम कदम उठाता है। कदम उठ चुका है और नीचे रखते ही वह गिर जायेगा। उस समय उसको बचाने का क्या उपाय है? कोई चिल्लाकर कहे भी कि पीछे मत जाना तो उसकी बात का अर्थ समझने तक वह गिर जायेगा। कल्पना करो कि चित्र-कार का एक पैर पहाड़ के कगारे पर है और दूसरा पैर पीछे की ओर जाने को उठ चुका है। वह पैर नीचे आया कि वह गिरा। इस अवस्था में उसे बचाने का एक मात्र उपाय यह है कि उस चित्र को उठा कर फेंक दो। तभी वह चित्र को बचाने के लिये आगे आयेगा। तभी उसका उठा हुआ पैर पीछे की ओर न गिर कर आगे को चलेगा और वह बच जायेगा। ठीक इसी प्रकार परमात्मा ने भी एक बड़ा सुन्दर चित्र बनाया—विश्व-चित्र। ऐसा सुन्दर चित्र अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। वही जीव भाव से अपनी ही चित्रकारी से मुग्ध हो रहा है। आप कहोगे कि हमने तो कभी चित्रकारी की नहीं अतः कुछ समझ में नहीं आया। तो तुमने दूसरा अनुभव तो किया है। बच्चे को पैदा भी तुम्हीं करते हो और तुम्हीं मोह में फंसते

हो। इस चित्रकारी का अनुभव तो सब· को है। यहां तुमको अपने बच्चे से मोह क्यों है ? तुम ही ने तो उसे बनाया है। बस इस जगत्-चित्र को बना कर ही ब्रह्म पीछे हट गया। वह भोक्ता बना। विश्व भोग्य है। उसका आनन्द लेने के लिये भोक्ता बनना पड़ेगा। जब आप कहते हैं रसगुल्ले में विद्यमान आनन्द को मैं लूंगा, तो उस समय आपको पता नहीं कि मेरे आनन्द से ही रसगुल्ला आनन्द वाला है, मेरी सत्ता से ही वह आनन्द वाला बनेगा। ब्रह्म अपनी ही कृति विश्व-चित्र को देखने के लिये भोक्ता बना और अपनी रचना को देख कर स्वयं मुग्ध हो गया। इसी को दार्शनिक लोग कहते हैं कि उसको अज्ञान हो गया। अब वह मोह इतना बढ़ा कि पहाड़ पर से गिरने पर उतारू होगया। यह गिरना क्या है, अपने आनन्द के लिये ही भोग्य और भोक्ता बना था, और अब कहता है कि मैं दुःखी हो गया। यह समझ में नहीं आता कि दुःख कैसे होता है ! वेद तो कहता है कि 'आनन्दं ब्रह्म'। उसी ने भोक्ता और भोग्य रूप बनकर अपना तीसरा रूप भी बना लिया जिसको श्रुति यहां पर 'प्रेरयिता' कह रही है। ज्ञान-रूप से वह प्रेरयिता कैसे है यह पहले बता चुके हैं। कर्म रूप से वह उपास्य कैसे है यह भी बता चुके हैं। इस समय बता रहे हैं कि वह वेद ही परम पुरुष प्रेरयिता है। वेद रूपी प्रेरयिता कहता है कि अरे भोक्ता, और पीछे मत जाओ। और पीछे जाओगे तो गिर जाओगे। ऐसे दुःखी बनोगे कि कहोगे 'हूं तो मैं दुःखी'। तो भोक्ता को इस अधःपतन से बचाने के लिये वेद ने क्या किया ? उसने उस सुन्दर विश्व-चित्र पर काला-पीला रंग पोत दिया। वह काला-पीला रंग क्या है ? तो वेद ने कहा : 'अनित्यम्' यही संसार जो अनित्य है 'असुखम्' वही दुःख रूप है। उसने इस चित्र को बिगाड़ना शुरू किया अर्थात् इसी को वैराग्य द्वारा बीभत्स किया। वैसे तो यह जगत् बीभत्स होने वाला नहीं है। क्योंकि सुन्दर ब्रह्म से बीभत्स कहां से उत्पन्न होगा ? महर्षि वशिष्ठ लिखते हैं कि रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला तथा त्रैलोक्यखचितम् ब्रह्मैकं प्रविदृश्यताम् ।। ज़गत् में क्रिया का

भान होता है, पर वास्तव में क्रिया है नहीं। एक पत्थर के पहाड़ पर कैलास (Ellora) का सारा मन्दिर खिंचा हुआ है। वैसे ही एक ही ब्रह्म सारे जगत् रूप में है। किन्तु उस पर थोड़ा सा अनित्यता का पोचा दे दिया गया है। पदार्थ है ही कहां कि अनित्य हो? जब वेद ने कह दिया कि 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' तो भगवान् भाष्यकार ने इस बात को खोल कर कहा 'इदं बुद्धिकालेऽपि सर्वं ब्रह्म एव'। अब भोक्ता जीव चित्रकार की तरह से उस चित्र को बचाने को दौड़ पड़ा। सत्कर्म करने लगा। पास गया। चित्र को उठाया। और छाती से चिपका लिया। यही तो उपासना है। शिव मूर्ति का ध्यान ही उपासना है। अब उसे इतने जोर से चिपकाया कि कहने लगा 'अहम् हरिः, नारायणोहम्, पुरुषोहमीशः'। जिसकी उपासना की थी वह मेरे से अभिन्न हो गया है। यही योग की निर्विकल्प समाधि है। वह एक अखण्ड स्थिति में चला जाता है। अब उसको अपना स्वरूप समझकर कभी स्वेच्छा से बाहर निकालकर उसे देखता है। वे काले-पीले दाग अनित्यत्व आदि उसी में लीन हो गये। उसे स्वरूप से समझता है कि भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता रूप से मैं ही आनन्द लेता हूं। कभी निर्विकल्प समाधि का आनन्द, तो कभी सविकल्प समाधि का आनन्द भी मैं ही लेता हूं। अब कभी उसे अपने से अलग़ करके और कभी एक करके आनन्द लेता है। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि चाहे समाधि हो या कुछ और उसे दोनों में कुछ भी फर्क नहीं लगता। आंख न मूंदूं, कान न रूंधू। सारे जगत् को देखते हुए भी उसी को देख रहा हूं। इस प्रकार श्रुति ने 'सर्वं प्रोक्तम्' सब कुछ कह दिया। त्रिविधम् ब्रह्म एतत्। ब्रह्म के तीनों स्वरूप भी बता दिये।

इस प्रकार इस श्वेताश्वतर मंत्र के विचार में सर्वात्मक शिव के सभी ज्ञेय, उपास्य एवं कर्मफलप्रदायक रूपों का वर्णन उपलब्धि केन्द्र व साधन निरूपण के साथ मिलने से इस मंत्र को वेदहृदय कहा जा सकता

है। सर्वत्र शिव दर्शन ही साध्य व साधन दोनों हैं। इस एक मंत्र का निरंतर विचार श्रद्धालु साधक को आत्मज्ञान कराने में समर्थ है यह स्पष्ट है।

॥ इति ॥